सन्त-वाणी

भाग-५ (ख)

(केसेट सं० २८ से ३२)

मानव सेवा संघ प्रकाशन

वृन्दावन

सन्त-वाणी

भाग-५ (ख)

(केसेट सं० २८ से ३२)

7-25-03
24-10-03 समाप्ति-लिखित

मानव-सेवा-संघ प्रकाशन

वृन्दावन (मथुरा) उ० प्र०

प्रकाशक :
मानव-सेवा-संघ,
वृन्दावन (मथुरा)
पिन—२८१ १२१

सर्वाधिकारी प्रकाशक :

द्वितीय संस्करण : ४,००० प्रतियाँ

मूल्य : ६) (छः रुपया मात्र)

मुद्रक :
ब्रज बिहारी लाल शर्मा, बी.एस-सी., एल-एल., बी.
विद्यालय प्रेस, केशीघाट, वृन्दावन-२८१ १२१
फोनः—(०५६५) ४४२५७१

सन्त-वाणी

भाग-५ (ख)

(केसेट सं० २८ से ३२)

-: निवेदन :-

१. सन्त अमर हैं। उनकी वाणी अमर हैं।

२. इस वाणी के आदर में सत्य का आदर है।

३. इस वाणी के आदर में जीवन का आदर है।

४. इस वाणी के आदर में संत का आदर है।

५. इस वाणी के आदर में संघ का आदर है।

—मानव-सेवा-संघ

अनुक्रमणिका

॥ ॐ ॥

प्रार्थना

[प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है]

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवम्
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जायँ

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

भूमिका

श्रीमहाराज जी के द्वारा अमूर्त सत्य को मूर्त शब्दों में प्रकाशित करने की लीला का संवरण हो चुकने के बाद, सन्त प्रेमी, संघ प्रेमी और सत्संग प्रेमी भाई-बहनों में यह संकल्प जोर पकड़ने लगा कि सन्तवाणी को सुरक्षित एवं सुलभ बनाये रखने का प्रयास होना चाहिए। श्रीस्वामी जी महाराज जब तक सशरीर विद्यमान थे, कुछ प्रेमीजनों ने उनकी विशेष स्वीकृति लेकर उनके कुछ प्रवचनों को टेप में रिकॉर्ड कर लिया था। विशेष स्वीकृति लेने का अर्थ यह है कि सामान्यतः प्रवचनों को टेप रिकॉर्डिंग करके रखना श्री महाराज जी ने साधकों के लिए विशेष हितकर नहीं माना था। प्रेमीजनों के विशेष आग्रह पर कभी-कभी स्वीकृति दे देते थे। ऐसी दशा में उनके प्रवचनों की *Arranged Recording* कभी नहीं हो सकी। जब जैसा बन पड़ा *Record* कर लिया गया। उनके ब्रह्मलीन हो जाने के बाद उनके ही स्वर में जीवनोपयोगी अनमोल वचनों को सुनकर जीवनदायी प्रेरणा लेने के लिए उनके चुने हुए टेप रिकॉर्डेड प्रवचनों के *Cassets* तैयार कराये गये।

प्रथम बार बारह कैसेट्स का प्रथम सैट तैयार हुआ। श्री महाराज जी की अमृत-वाणी का यह सैट सत्संग प्रेमियों के द्वारा बहुत पसन्द किया गया। साधकों के साधनयुक्त जीवन के निर्माण का यह एक आधार बन गया। संघ की शाखाओं द्वारा संचालित सत्संग की बैठकों में श्री महाराज जी के वचनों से सजीवता आ गई। मानव जीवन पर प्रयुक्त गूढ़ दार्शनिक तथ्यों की सरल अभिव्यक्ति श्रीमहाराज जी की ही प्रेम पूर्ण सशक्त ध्वनि में सुनकर प्रेमी जनों के हृद्‌तन्त्री के तार स्पन्दित हो उठते हैं। यह तथ्य आज श्री महाराज जी के साकार

विग्रह के लुप्त होजाने की स्थिति में अत्यधिक अलभ्य उपलब्धि मालूम हो रही है।

जिस समय रिकौर्डेड प्रवचनों के कैसेट्स बनाये जा रहे थे उस समय यह विचार भी आया कि क़ैसेट्स में जो वचन हैं वे इतने गूढ़ हैं कि उनका अध्यनन-मनन, पठन-पाठन बारम्बार करते रहने पर ही उनको हृदयंगम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जो सत्संग प्रेमी टेप रिकौडिंग मशीन तथा कैसेट्स अपने पास नहीं रख पायेंगे उनके लिए भी ये अनमोल प्रवचन सुलभ होने चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूरे सैट के प्रवचनों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है। सन्तवाणी भाग-२ प्रथम सैट के कैसेट्स सं० १ से ६ तक के प्रवचन, सन्तवाणी भाग-३ में कैसेट्स सं० ७ से १२ तक के प्रवचन, तथा संतवाणी भाग-४ में द्वितीय सैट के कैसेट्स सं.१३ से २२ तक के प्रवचन प्रकाशित होचुके हैं। प्रस्तुत संग्रह सन्तवाणी भाग-५(ख)में तृतीय सैट के कैसेट्स सं. २८ से ३२ तक के प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं। सन्तवाणी माला का यह पांचवाँ पुष्प आपकी सेवा में प्रस्तुत है। कैसेट्स सुनते समय भी जिन-जिन वाक्यों पर आप विशेष रूप से विचार करना, अध्ययन-मनन करना चाहें, उन वाक्यों को इस संग्रह में रेखांकित करके सरलता से कर सकते हैं। सत्संग प्रेमी भाई-बहनों की सेवा में सप्रेम समर्पित सन्तवाणी माला का पांचवां पुष्प सब प्रकार से आपके लिए हितकारी हो, इसी सद्भावना के साथ—

विनीता,
देवकी

वृन्दावन,
श्री कृष्ण जमाष्टमी सं० २०४३
२७ अगस्त, १९८६

२८

अगर आप अपनी पसन्दगी बदल दें, सम्बन्ध बदल दें तो मन बदल जाता है। हम चाहे जैसे रहें और मन बदल जाय, सो मन बदलता नहीं।

इन्द्रियाँ न बहिर्मुख हैं, न अन्तर्मुख। जब हम बहिर्मुख होना पसन्द करते हैं, वे बहिर्मुख होती हैं। और जब हम अन्तर्मुख होना पसन्द करते हैं, वे अन्तर्मुख होती हैं।

मनुष्य को प्रभु ने संसार का दास बनने के लिये नहीं बनाया, संसार के काम आने के लिये बनाया है। प्रभु ने अपना दास बनाने के लिए भी हमको नहीं बनाया है, प्रेमी बनने के लिये बनाया है, दोस्त बनने के लिए बनाया है।

परमात्मा की माँग से संसार का आकर्षण नाश होता है, संसार नहीं नाश होता। संसार का आकर्षण नाश होने के बाद संकल्प का नाश हो जाता है।

संकल्प का नाश होने से निर्विकल्पता आजाती है। और निर्विकल्पता में जीवन है, रस है, स्वाधीनता है।

२८

अ

प्रवचन :

श्रोता :—मन को बस में करने के उपाय क्या हैं ?

स्वामीजी :—बात असल में यह है न ! कि मन में वही बात आती है, जिन बातों को आप पसन्द करते हैं, जिनसे सम्बन्ध रखते हैं। आप अपनी पसन्दगी बदल दें, सम्बन्ध बदल दें तो मन बदल जाता है। और हम चाहे जैसे बने रहें और मन बदल जाय, सो मन बदलता नहीं है। अपने को बदलने से मन बदलता है। जिस चीज की आप आवश्यकता अनुभव करते हैं उधर मन चला जाता है। जिस चीज से आप सम्बन्ध तोड़ देते हैं, मन हट जाता है। जिससे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, मन लग जाता है। एक तो यह बात है मूल।

दूसरी स्थूल बात यह है कि आप जरूरी काम पूरा करदें और बिना जरूरी काम छोड़ दें, तब भी मन बस में हो जाता है। तीसरी बात है कि जो नहीं करना चाहिए सो न करें और जो नहीं कर सकते, वह न करें, और जो करना चाहिए सो करदें, तब भी मन बस में हो जाता है।

केवल प्रभु को ही अपना मानें, तब भी मन बस में हो जाता है। अपनी सबसे बड़ी आवश्यकता को अनुभव करें, तब भी

मन बस में हो जाता है। अब कौनसा किसको सूट करे, पता नहीं। जो जिसके अनुरूप पड़े, करें।

अपने को बदले बिना मन बस में हो जाय—ऐसा उपाय मुझे मालूम नहीं है। असल में जब मनुष्य पराधीनता को पसन्द कर लेता है, तब वह मन के अधीन हो जाता है। और जब स्वाधीनता को पसन्द कर लेता है, तो मन उसके अधीन हो जाता है। एक बात। दूसरी बात है कि जो उसे स्वाधीनता मिली है न! जीवन में जो मनुष्य को स्वाधीनता मिली है, यदि उस मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग करे, दुरुपयोग न करे, तो उसे स्वाधीन होने में बहुत सुविधा हो जाती है।

वैसे तो दो ही बातें हैं अपने सामने—हम पराधीन नहीं रहेंगे और मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करेंगे। एक बात का सम्बन्ध संसार के साथ है और दूसरी बात का सम्बन्ध अपने साथ है। जिस बात का सम्बन्ध अपने साथ है, उससे परमात्मा मिल जाता है। और जिसका सम्बन्ध संसार के साथ है, उससे विश्व-शान्ति का प्रश्न हल हो जाता है। तो लौकिक उन्नति भी हो जाती है और पारमार्थिक उन्नति भी हो जाती है। दोनों हो जाते हैं, यदि हम मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग न करें।

सर्वांश में तो स्वाधीनता मिली नहीं है, आंशिक स्वाधीनता मिली है। जैसे आप बोल सकते हैं, कटु भी बोल सकते हैं, मधुर भी बोल सकते हैं। यह आपकी स्वाधीनता है—कटु न बोलें, मधुर ही बोलें। सत्य भी बोल सकते हैं, मिथ्या भी बोल सकते हैं। मिथ्या न बोलें, सत्य ही बोलें। बल जो मिला है, कुछ कर सकते हैं। तो बुराई न करें, भलाई करें। आप इस

बात में स्वाधीन हैं। तो जिन-जिन बातों में हम स्वाधीन हैं आंशिक रूप से, उस स्वाधीनता का कभी जीवन में दुरुपयोग न करें। इसी का नाम है—धर्म विज्ञान। इसी का नाम है—कर्त्तव्य विज्ञान, स्वाधीनता का सदुपयोग।

और हम पराधीन रहना पसन्द न करें, स्वाधीन हो जायँ, इसी को कहते हैं अध्यात्म-विज्ञान। धर्म विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान जब दोनों आजाते हैं। इन दोनों का मिल कर फल होजाता है कि मनुष्य को परमात्मा मिल जाता है। चाहें तो, न चाहें तो जरूर मिल जाता है। ऐसा है। अब आप सोच लीजिये। इन दो बातों पर विचार करने को आप तैयार हैं क्या? एक तो पराधीन नहीं रहूँगा, और एक स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करूँगा। मानव-जीवन का मूल मन्त्र है यह—दो वाक्यों में।

ऐसी कोई बुराई कभी जीवन में उत्पन्न ही नहीं होती जो हमारे पराधीन होने से न हो। यानी पराधीनता को हम पसन्द कर लेते हैं, अच्छी लगती है, भाती हैं। तो पराधीनता हमको अच्छी न लगे, स्वाधीनता हमें प्रिय हो, स्वाधीनता हमें पसन्द हो। और जो स्वाधीनता हमें मिली है किसी आंशिक रूप में, उसका हम सदुपयोग करें, दुरुपयोग न करें—दो ही बातें हैं जीवन में बढ़िया से बढ़िया। और ये मानव-जीवन की बात हैं दोनों।

मनुष्य इन दोनों बातों में स्वाधीन है। स्वाधीन होने में भी स्वाधीन है और मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग में भी स्वाधीन है। अगह वह स्वाधीन नहीं होना चाहता है, तो यह उसकी अपनी भूल है। अगर वह स्वाधीनता का दुरुपयोग

करता है, तब भी तो अपनी भूल है। यह बेबसी की बात नहीं है, मजबूरी की बात नहीं है, विवश होकर नहीं करता है ऐसा, अपनी मौज से करता है। भूल से करता है स्वाधीनता का दुरुपयोग भी और पराधीनता की पसन्दगी भी।

श्रोता :—महाराज जी ! स्वाधीनता स्वाभाविक तो है, अपना स्वरूप है, पर मिलती नहीं। और पराधीनता जो है अपना स्वरूप नहीं है, बाहर से आई है। पर संस्कार........?

स्वामी जी :—ठीक है ! पर वह प्रक्रिया मुझे मालूम नहीं है। इसलिए मैं उस ढंग से कह नहीं पाता हूँ। मुझे यह प्रक्रिया मालूम है कि यदि हम स्वाधीन होना पसन्द करें, तो स्वाधीन हो सकते हैं। और मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग न करें, तो संसार के काम आसकते हैं। और स्वाधीन हो जाँयँ तो अपने काम आ सकते हैं, प्रभु के काम आ सकते हैं। ऐसा है।

श्रोता :—महाराज जी ! यहाँ तक तो ठीक है कि परमात्मा ने बड़ी अनुकम्पा करके मानव शरीर दे दिया। परन्तु हमारी इन्द्रियों को बहिर्मुख क्यों बना दिया ?

स्वामी जी :—देखो, देखो ! यह तो परमात्मा से पूछने की बात है। क्योंकि उसने बनाने से पहले मेरी राय तो ली नहीं थी। मैं इसका क्या उत्तर दूँगा ?—'हास्य) लेकिन आपसे ठीक कहता हूँ कि ऐसी बातें मैंने बहुत-सी सुनी हैं। ठीक होंगी। लोगों ने बड़ी ईमानदारी से लिखी हैं। पर वास्तव में न इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं और न अन्तर्मुख। अब शरणानन्द की फिलोसोफी सुनो। शरणानन्द की फिलोसोफी में इन्द्रियाँ न बहिर्मुख हैं, न अन्तर्मुख। जब आप बहिर्मुख होना पसन्द करते हैं, तो वे बहिर्मुख होती हैं। और जब हम अन्तर्मुख

होना पसन्द करते हैं तो वे अन्तर्मुख होती हैं। इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूप से आपकी स्वीकृति के बिना, आपके सहयोग के बिना कुछ नहीं करतीं। इसलिए मैं उन्हें अपराधी नहीं मानता हूँ। जब उन्हीं को अपराधी नहीं मानता, तो उनके बनाने वाले की भूल कैसे मान लूँ ? आप सोचिए। यह मुझमें साहस नहीं है कि मैं सृष्टि के बनाने वाले को अपराधी मान लूँ और भूल मान लूँ। ऐसा मैं नहीं मानता।

श्रोता :—असंख्य जन्मों से आदमी का जन्म हो रहा है। इन्द्रियाँ........?

स्वामीजी :—आप मेरी भाषा बोलो। अपनी भाषा मत बोलो। अनेक जन्मों का तुमको ज्ञान तो है नहीं, सुन कर मान लिया है। हुआ होगा। ठीक है, लेकिन इस जन्म की बात करो। अनेक जन्म तो गए। इस जन्म में भी बहुत बड़ा भाग बीत गया। अभी की बात करो। आप क्या चाहते हैं ? आपको क्या पसन्द है ? आप क्या कर सकते हो ? आप क्या मानते हो ? आप क्या जानते हो ?—इस पर बात करो। तब तो होगा आपको लाभ। और अनेक जन्मों की बात सोचते रहो, तो लाभ तो होने वाला है नहीं। आप कुछ जानते हो कि नहीं ? आप कुछ मानते हो कि नहीं ? आप कुछ कर सकते हो कि नहीं ? तो आपका जानना, आपका मानना, आपका करना ठीक होना चाहिए। बेड़ा पार हो जायेगा। चाहे भले ही अनेक जन्मों में कुछ भी हुआ हो। चाहे इस जीवन का बहुत बड़ा भाग बीत गया है। मेरा तो ऐसा ख्याल है।

बात करने को तो चाहे जितनी बात कर लो, चाहे जैसी बात कर लो लेकिन वह जरूरी बात नहीं है। जरूरी बात

यही है कि आप अपने द्वारा अपने से पूछिये, कि भाई, क्या मैं स्वाधीन होना पसन्द करूँगा ? फिर पूछिये, कि क्या मैं मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करूँगा ? अगर आप नहीं करेंगे, तो आप सच्चे मानव हो जायेंगे। और जब आप मानव हो जायेंगे, तब आपमें मानवता आजायेगी। और जब मानवता आ जायेगी, तब जीवन में पूर्णता भी आ जायेगी। क्योंकि मानवता में पूर्णता है। और आप मानव हैं, आपमें मानवता आ सकती है। केवल इन दो बातों को सामने रख कर विचार कर लीजिए कि मैं मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करूँगा और किसी प्रकार से पराधीन होना पसन्द नहीं करूँगा।

स्वाधीन शब्द के उच्चारण में काल अपेक्षित है, लेकिन यदि आपको स्वाधीनता पसन्द आजाय, तो स्वाधीन होने में काल अपेक्षित नहीं है। कितनी सुगमता चाहिए आपको ? पर आश्चर्य की बात तो यही है कि स्वाधीन होना ही पसन्द नहीं करते, तो क्या किया जाय ! तो पराधीन न तो कभी शान्ति पाता है, न मुक्ति पाता है और न भक्ति पाता है। यह नियम है, यह विधान है, यह जीवन का सत्य है। इसमें इधर-उधर की बात चलती नहीं है। ठीक ईमानदारी से सोचा जाय तो। फिर भी जैसी आपकी मर्जी सरकार ! हमें क्या है ! हमें तो आपकी पूजा करनी है। जैसी पूजा पसन्द करो, कर देंगे, जो हम कर सकते हैं। लेकिन वास्तविक बात यह है कि हम लोग अपने-अपने सम्बन्ध में अपने द्वारा विचार नहीं करते। सुनी हुई बातों को मान-मान करके एक राय कायम कर लेते हैं। और यह मान लेते हैं कि मानों यह हम जानते हैं।

अरे, किसी महापुरुष ने लिख दिया कि सृष्टिकर्त्ता ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है। मान लिया। सोचा ही नहीं कि किस दशा में लिख दिया, क्यों लिख दिया, क्या लिख दिया, किस प्रसंग में लिख दिया ? अरे, लिखा था सो सीख लिया, किन्तु स्वयं विचार ही नहीं किया।

अगर आप विचार करते, तो आपको मालूम हो जाता कि हमारी रुचिपूर्ति में ही इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं। माँग पूर्ति में थोड़े ही बहिर्मुख हैं ! आप रुचि को पूरा करते जायेंगे, इन्द्रियाँ बहिर्मुख बनी रहेंगी। आप रुचि पूरा करना छोड़दें, इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो जायेंगी। इन्द्रियों को क्यों अपराधी बनाते हो ? रचने वाले पर क्यों दोषारोपण करते हो ? लिखने वाले ने लिखा होगा किसी दृष्टिकोण से। कह दो—हमारी समझ में नहीं आती है यह बात। निन्दा मत करो।

श्रोता :—यह तो श्रुति का प्रमाण है महाराज !

स्वामीजी :—श्रुति की बात कहता हूँ, श्रुति के बाप का प्रमाण है जो मैं कहता हूँ। (हास्य) क्योंकि मेरे बाद श्रुति हुई है, मुझसे पहले श्रुति नहीं हुई। (हास्य) बुरा मत मानियेगा। बातचीत करने में रियायत नहीं करता। (हास्य) श्रुति अनेक हैं, एक नहीं हैं महाराज ! श्रुतियों का पूरा ज्ञान है किसी को कि कितनी श्रुतियाँ हैं ? अनन्त श्रुतियाँ हैं। परमात्मा का अनन्त ज्ञान है। यह मैं आपसे निवेदन करता हूँ।

उस श्रुति को छोड़ दो। दूसरी श्रुति आपके काम की निकल आयेगी, उसे लेलो। फिर भी मैंने यह तो नहीं कहा कि यह बात गलत है। ठीक होगी, मुझे नहीं जँची, तो मैं क्या करूँ ? कोई अपराध है क्या मेरा ? कोई कुसूर नहीं।

मैं इसमें अपराध नहीं मानता। मुझे नहीं मालूम होता। मैं 'करण' को कर्त्ता कभी मानने को राजी नहीं हूँ। फिर ये बहिर्मुख-अन्तर्मुख क्या ? जैसे तुम वैसे तुम्हारे करण। तुम बहिर्मुख तो तुम्हारे करण बहिर्मुख। तुम अन्तर्मुख तो वे अन्तर्मुख। और फिर भी अगर ऐसा है, तो मत करो परवाह, मत करो इन्द्रियों को पसन्द ! नाता तोड़ो ! आखिर शरीर तो भौतिक तत्त्वों से बना है न ! और संसार की उससे एकता है। और गम्भीरता से विचार किया जाय, तो आपको मानना पड़ेगा कि शरीर और संसार एक ही जाति के हैं दोनों।

अगर इन्द्रियाँ संसार की ओर जाती हैं, तो अपराध क्या है उनका ? संसार की जाति की ही हैं। लेकिन आप क्यों संसार को पसन्द करते हो जी, यह बताओ ? आप तो भगवान् की जाति के हैं। आपकी जातीय एकता संसार से नहीं है। आपका नित्य सम्बन्ध संसार से नहीं है। आपका आत्मीय सम्बन्ध संसार से नहीं है, परमात्मा के साथ है। शरीर का तो नित्य सम्बन्ध भी संसार से है, और जातीय सम्बन्ध भी संसार से है। शरीर अगर संसार की ओर जाता है, तो जाने दीजिए साहब, बेफिक्री से जाने दीजिये। निडर होजाइए। आप क्यों डरते हैं ? आप अपना आत्मीय सम्बन्ध, आप अपना नित्य सम्बन्ध, आप अपना जातीय सम्बन्ध परमात्मा से स्वीकार कीजिए। और श्रुति इस बात का विरोध करे, तो मत मानिये। अगर इसका समर्थन करे, तो पहले इसे मान लीजिये, फिर पीछे वाली श्रुति मान लीजिए।

मेरा तो निवेदन इतना ही था कि किसी भी सुनी हुई बात को अपने जीवन के साथ मिला कर देखने की कोशिश कीजिए, तो आपको ज्यादा लाभ होगा। और नहीं तो मानते रहिए

जीवन भर। लाभ तो तभी न ! होगा कि जब आप जिस बात को सुनें, उसे अपने जीवन पर विचार करके देखें। मान लीजिए, आप शान्त बैठे हैं। और आपकी पूर्व कृति के प्रभाव से बुरे ख्याल उठे। थोड़ी देर के लिए कल्पना करलो। उठे ही तो ख्याल ! जिस चीज का ख्याल उठा, वहाँ मौजूद है क्या ? बोलो क्या राय है ?

श्रोता : जी, नहीं।

स्वामीजी : ठीक बात है न ?

श्रोता : ठीक है।

स्वामीजी : बिल्कुल ठीक ?

श्रोता : बिल्कुल ठीक।

स्वामीजी : अच्छा ! चीज तो वहाँ मौजूद है नहीं, केवल ख्याल है।

अच्छा, आपने जान लिया कि बुरा ख्याल है। ठीक बात है न ? इसमें कोई बात नहीं है न ? आप उसको पसन्द मत कीजिए। ख्याल उठने से ही क्यों बिगड़ते हैं आप ? चीज तो वहाँ है नहीं। उस ख्याल से लड़ते क्यों हैं आप ? चीज तो है नहीं अरे, तू क्यों उठा, तू क्यों उठा ?—ऐसे ही लड़िए कि खाना क्यों पचा ? शरीर में अंगों में खून की गति क्यों हुई ? शरीर में गंदला क्यों हुआ ?—इन सबसे लड़िये ? अरे भाई, जो बात आपके बिना करे हो रही है, बिना चाहे हो रही है, उससे आप परेशान क्यों हैं ? इस पर थोड़ा गम्भीरता से विचार कीजिए। आप उसका समर्थन नहीं करेंगे, तो वह ख्याल वहाँ का वहीं नाश हो जायेगा। फिर दूसरा अच्छा ख्याल उठेगा। अगर सामर्थ्य विरोधी है तो उसे भी पसन्द मत

कीजिए। अगर अच्छा ख्याल है और सामर्थ्य के अनुसार है, तो उसको पूरा कर दीजिए। फिर भी आप बेख्याल के होजायेंगे।

तो थोड़ी-सी बात के लिए आप परेशान क्यों होते हैं? ....अरे, राम! राम! संस्कार क्यों उठ गये? इन्द्रियाँ बहिर्मुख हो गई, मन चंचल हो गया! परेशानी की क्या बात थी? हो गया, तो हो जाने दीजिए। तुम्हारा क्या बिगड़ेगा? हाँ इन सब बातों पर बहुत गम्भीरता से विचार करेंगे, तो आपको मालूम पड़ेगा कि जिन विषयों का हमने अनेक बार भोग किया है, उन्हीं का राग हममें अंकित हुआ है। और वह अंकित राग जब हमें अवसर मिलता है, कार्य से फुरसत मिलती है, या जब हम अन्तर्मुख होना चाहते हैं, उस समय वह सामने आता है। इतनी-सी बात तो आपकी बिल्कुल सत्य है। सामने आता है।

लेकिन अगर आप उसका समर्थन नहीं करेंगे, आप अगर उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करेंगे, आप अगर उससे अपने को नहीं मिलायेंगे, तो वह ख्याल कुछ काल में अपने आप नाश हो जायेगा। कब हो जायेगा? इसकी भी परवाह मत करो। हो जायेगा, जरूर। और नहीं होजायेगा तो आपका तो कुछ बिगड़ा नहीं न! आप तो अपने में ज्यों-के-त्यों स्थित हैं। अरे! कोई दूसरा आदमी बैठ कर बीड़ी पी रहा हो और आप देख रहे हों, तो आपको क्या नुकसान होगा उसके पीने से? ऐसे ही कोई नहा रहा है, आप किनारे पर बैठे वैसे ही परेशान हो रहे हैं! (हास्य)

इसी तरह से अपने संस्कारों से लड़ो मत, उनके सामने हार स्वीकार मत करो, उनके सामने उनका समर्थन मत करो। यह मानव-मनोविज्ञान है भैया! इससे मन शुद्ध हो

जायेगा, शान्त हो जायेगा अपने आप । अनुभव करो, अरे ! एक संकल्प पूरा करने में महीनों का समय नहीं लग जाता ? वर्षों नहीं लग जाते क्या ? बोलो, क्या राय है ? कभी-कभी देखा है आपने—जरा देर में संकल्प उठ गया, कितना समय लग गया ! कितनी शक्ति लग गई ! जब पूरा हो गया तो थोड़ी देर में वहीं आगए जहाँ थे । मिला कुछ नहीं। यह जीवन का सत्य क्या अपको नहीं मालूम होता हि हर संकल्प की पूर्ति होने पर मनुष्य उसी स्थिति में आता है, जिस स्थिति में संकल्प की उत्पत्ति के पूर्व था ? इस सत्य को आप क्यों नहीं पकड़ते बाबा ? उसके पूरे होने से आपकी कोई वृद्धि नहीं हो गई, उसके पूरे न होने से आपकी कोई क्षति नहीं हो गई । आप तो उसी स्थिति में थे ही ।

तो इस दृष्टि से देखा जाये तो जिसे आप मन को काबू में करने की बात कहते हैं, पूरा हो जायेगा । लेकिन अगर आपने स्वाधीनता का दुरुपयोग किया और अगर आपने पराधीन रहना पसन्द किया, तो कुछ नहीं हो जायेगा । आप पराधीन रहना मत पसन्द कीजिए । आप स्वाधीनता का दुरुपयोग मत कीजिए । काम बन जायेगा आपका । यह मानव-मात्र का प्रोग्राम है । चाहे वह किसी मत, मजहब, इज्म, सम्प्रदाय का मानने वाला क्यों न हो । स्वाधीन हुए बिना प्रभु की न समीपता प्राप्त होती है, न एकता प्राप्त होती है और न अभिन्नता प्राप्त होती है । न योग प्राप्त होता है न बोध प्राप्त होता है और न प्रेम प्राप्त होता है स्वाधीन हुए बिना ।

और स्वाधीनता का सदुपयोग किए बिना आपको संसार कभी पसन्द नहीं करता । इसलिए इन दोनों पर ध्यान दीजिये, जितना दे सकें, बल पूर्वक, ज्ञान पूर्वक, विचार पूर्वक, धीरज

पूर्वक जैसे बने वैसे। रोकर, पीटकर, चीखकर, चिल्लाकर, समझकर, समझाकर, जैसे बने वैसे इन दो मुख्य बातों पर ध्यान दीजिए। विचार करो जितना तर्क उठे, इन दोनों बातों में लगाओ। स्वाधीनता का दुरुपयोग करके कभी आप संसार के काम के नहीं हो सकते। संसार आपको बिल्कुल नापसन्द कर देगा—कम करे, ज्यादा करे, अभी करे, कभी करे। स्वाधीन हुए बिना न शान्ति मिले, न मुक्ति मिले और न भक्ति मिले। और स्वाधीन होने में आप पराधीन हैं नहीं, असमर्थ हैं नहीं। स्वाधीनता के सदुपयोग में आप असमर्थ हैं नहीं। इन दोनों बातों में मानव की असमर्थता का दोष नहीं है।

स्वाधीनता का तो मतलब यह न! होता है कि आपको उसकी अपेक्षा न रहे जो आपमें नहीं है, आपके पास नहीं है। यह कह रहा हूँ। शरीर के अधीन पराधीन, योग्यता के अधीन भी पराधीन, सामर्थ्य के अधीन भी पराधीन, वस्तुओं के अधीन भी पराधीन। वह स्वाधीनता नहीं। जैसे एक बात सुनायें, आपको। हम श्री वृन्दावन से श्री गोवर्धन जा रहे थे, वहाँ सत्संग था। दो कार थीं। एक में हम बैठे थे, एक में और मित्र लोग थे। कार ५० मील की रफ्तार से चल रही थी। हम लोग सोच रहे थे कि अभी पहुँचे जाते हैं। थे तो पराधीन और सोच रहे थे कि स्वाधीन! कार खड़ी हो गई। अब मालूम पड़ा। देखिए, पराधीन तो तब भी थे जब कार में बैठे थे, और नहीं चली तब भी पराधीन थे। थे न ?

तो बहुत से लोग इस बात को स्वाधीनता मान लेते हैं कि हमारे पास इतना पैसा है, आराम से खायेंगे, भजन करेंगे। एक बार हम उत्तरकाशी में थे। केशवानन्द नाम के एक

महात्मा थे। क्षेत्र से रोटी आयें, हम भी खायँ, वे भी खायँ। कहने लगे—'क्या बतायें महाराज! हमने पाँच हजार रुपया इकट्ठा किया था एक फर्म में। जब घर छोड़कर चले थे उत्तर काशी के लिए, तो यह सोचा था कि २५/- महीना मिल जायेगा ब्याज का।'—उस जमाने में २५/- बहुत थे। भैया! आजकल तो सवा सौ समझो, डेढ़ सौ समझो। पाँच गुनी-छः गुनी, कोई-कोई चीज दस गुनी मँहगी है। जी? उस समय तो सस्ता बहुत था।—'क्या बतायें, फर्म ही फेल हो गई।' तो हम और वे दोनों बराबर हो गए। (हास्य)

तो कुछ लोग, जैसे स्थान मिल जाय बैठने के लिए तो सोचते हैं कि हम स्वाधीन हो गए। खाना मिल जाय तो हम स्वाधीन हो गये। शरीर स्वस्थ है तो स्वाधीन हो गए। यह स्वाधीनता नहीं है। स्वाधीनता का अर्थ ही यह है कि आप जब स्वाधीनता पसन्द करेंगे तो शरीर की भी आप आवश्यकता अनुभव नहीं करेंगे। और मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी दुर्बलता जो मुझको दीखती है, वह यही दीखती है कि आदमी यह सोचता है कि शरीर बना रहे। और उनके भी बड़े-बड़े प्रमाण हैं महाराज! इतने प्रमाण हैं कि मेरा मुँह बन्द हो जाय इतना लोग सुना देंगे। शरीर के बिना यह नहीं होगा, शरीर के बिना वह नहीं होगा। ठीक है, लेकिन यही सबसे बड़ी दुर्बलता है कि मनुष्य यह सोचता है कि शरीर बना रहे। और वह रहेगा नहीं। यहीं से पराधीनता का जन्म होता है। और चीजें तो शरीर के बाद में न! आती हैं काम में? शरीर के लिए न! आती हैं काम में? क्या राय है बोलिये?

तो यह पराधीनता हम पसन्द न करें कि शरीर नहीं रहेगा तो हमारा जीवन ही नहीं रहेगा—इस पर गम्भीरता

से मनन करलें। अगर शरीर के न रहने से हमारा जीवन न रहेगा, तो हमारा जीवन है ही नहीं, रहेगा क्या ? ऐसा मान लेना चाहिए। नहीं तो अगर हमारा जीवन है, अगर हमारा अस्तित्व है, तो शरीर नहीं रहेगा, हमारा अस्तित्व रहेगा। संसार नहीं रहेगा, हमारा अस्तित्व रहेगा। कौन मिटा सकता है ?

देखिए, मिलता है वही जो मिला है। अलग होता है वही जो अलग है। अगर आप कभी भी यह अनुभव करें, कभी भी मानें कि शरीर अलग हो जायेगा, तो अभी मान लीजिए कि अभी अलग है। और इस बात में विश्वास करें कि कभी भी परमात्मा मिल जायेगा, तो अभी मान लीजिये कि अभी पास है, अभी भी मिला है।

अगर आपको यह बात जँच जाय, रुच जाय, पसन्द आ जाय तो आपको स्वाधीन होने का साहस भी हो जाय, और आप स्वाधीन हो भी जायँ। एक बात। दूसरी बात यह है कि अगर आप स्वाधीन नहीं होना चाहते हैं और यह सोचते हैं कि शरीर के द्वारा ही काम चलेगा, धन के द्वारा ही काम चलेगा तो फिर भाई, यह मत सोचिए कि शान्ति हमको मिल जाय, फिर यह भी मत सोचिए कि मुक्ति हमको मिल जाय। फिर यह भी मत चोचिये कि भक्ति हमको मिल जाय। यह भी मत सोचिए। लेकिन बड़ा अनर्थ हो जायेगा कि शरीर के बिना तो काम चलेगा नहीं, फिर भी हमको शान्ति चाहिए। करते रहो भाई, बच्चों जैसा खेल। वास्तविक शान्ति मिलेगी नहीं।

जिस समय आप स्वीकार करेंगे, अपने द्वारा स्वीकार करेंगे, अनुभवपूर्वक स्वीकार करेंगे कि जो शरीर कभी अलग

होगा, हम अभी क्यों न उससे अपनी असंगता का अनुभव करें ! जो वस्तु कभी अलग होगी, क्यों न उससे अभी निर्ममता पसन्द करें ? जो कामनायें हमको पराधीन बनाती हैं, क्यों न हम उनका त्याग करें ! इसमें कोई धन की जरूरत तो है नहीं, बल की जरूरत तो है नहीं, संसार की जरूरत तो है नहीं। आप अकेले होकर जब चाहें तब शरीर से असंग हो सकते हैं, जब चाहें तब निर्मम हो सकते हैं। जब चाहें तब निष्काम हो सकते हैं। इसमें आपकी कोई कठिनाई नहीं है।

और यह कहें कि साहब ! यह तो बड़ा कठिन है। तो शरीर को बनाए रखना कौनसा सुगम है ? है क्या ? कोई कह दे कि निष्काम होना बड़ा कठिन है तो भाई, कामनापूर्ति करना कौनसा सहज है ? कोई कहे कि ममता छोड़ना बड़ा कठिन है तो मैं पूछता हूँ कि जिस पर आपकी ममता है, उसे रखना क्या सुलभ है ? सहज, सम्भव है क्या ? बोलो ? अब काहे को मौन होगए ?

श्रोता : नहीं है, नहीं है।

स्वामीजी : तो जो सुलभ नहीं है उसको तो आप पकड़े बैठे हैं, कोशिश करते हैं। और जो सुलभ है, उससे आप निराश हो जाते हैं। सो मत हो भैया ! आप स्वाधीन होने से कभी निराश न हों। आप स्वाधीन हो सकते हैं। स्वाधीनता आपका जन्म-जात अधिकार है। क्यों ?

प्रभु ने आपको पराधीन होने के लिए नहीं बनाया है। आपको शरीर और संसार इसलिए नहीं दिया है कि आप पराधीन हो जायँ। इसलिए दिया है कि आप उदार हो जायँ, आप संयमी हो जायँ, आप तपस्वी हो जायँ, आप संसार के काम आजायँ। मनुष्य को प्रभु ने संसार का दास बनने के

लिए नहीं बनाया है। संसार के काम आने के लिए बनाया है। और आप सच मानिए। मैं कभी-कभी ऐसा अनुभव करता हूँ और ठीक ही है यह बात, मेरे लिए तो ठीक ही है। आपके लिए ठीक होगी या नहीं कि प्रभु ने अपना दास बनाने के लिए भी हमको नहीं बनाया। प्रेमी बनाने के लिए बनाया है दोस्त बनाने के लिए बनाया है। हम अपनी मर्जी से अपने को दास मान लेते हैं।

श्रोता : दास्य भाव नीचा ....?

स्वामीजी : दास्य-भाव नीचा नहीं है, बहुत ऊँचा है। दास स्वामी को प्यारा होता है। यह बात अलग है। इस दृष्टि से मत लीजिए इस बात को। परमात्मा ने तो हमको-आपको इसलिए बनाया है कि संसार में भी हम उदार होकर रहें और स्वाधीन होकर रहें, और प्रेमी होकर रहें। यह प्रभु का संकल्प है मेरे भाई ! यह जगत का संकल्प है मेरे भाई ! जगत् आपको पराधीन नहीं देखना चाहता। जो जगत् में ममता का भार रखते हैं, उनसे जगत् भयभीत होता है। जगत् हर्षित होता है उससे, जो जगत् पर अपना ममत्व नहीं रखता, जो जगत् से कामना नहीं रखता। परमात्मा ने इसी उद्देश्य के लिए बनाया है सरकार ! आपको।

फिर भी आपको परमात्मा की भूल दिखाई दे, तो कोई बात नहीं। मिलकर हम फिर बात करेंगे। अभी से मुकद्दमा मत चलाओ। पहले परमात्मा के उद्देश्य को पूरा करो जिसे कि आप कर सकते हैं। अल्प-से-अल्प शक्ति वाला मनुष्य भी संसार के काम आसकता है, यदि वह उदार होना पसन्द करे, यदि वह स्वाधीन होना पसन्द करे। तो स्वाधीन होने पर ही

आप संसार के काम आते हैं और स्वाधीन होने पर ही आप प्रभु के प्रेमी होते हैं। और स्वाधीन होने से ही सर्व दु.खों की निवृत्ति होती है। स्वाधीन होने से ही चिरशान्ति और जीवन-मुक्ति मिलती है। मजाक नहीं है। पसन्द करें, तो स्वाधीन आप हो सकते हैं।

इतनी बातों पर तो आपका अधिकार हीं है सरकार! चिर-शान्ति में, जीवन-मुक्ति में, प्रभु-प्रेम में आपका अधिकार ही है। फिर भी आप कहते हैं कि कठिन है, सम्भव नहीं है। तो जिसको आप पकड़े बैठे हैं वह तो बिल्कुल ही सम्भव नहीं है। रोओ बैठकर भाई। रोने के सिवाय क्या रह गया है भाई, बताओ ?

अगर हम मानते हैं कि स्वाधीन होना सम्भव नहीं है। तो धन के अधीन जीना चाहें, तो उसे बनाये रखना सम्भव है क्या ? तन के अधीन हम अपना जीवन रखना चाहते हैं, यह तन रखना सम्भव है क्या ? आप सोचिये।

२८

ब

सत्-चर्चा का हम सबको अवसर मिला है। क्योंकि यह किसी कर्म का फल नहीं है। कर्म करने की स्वाधीनता मानव होने के पश्चात् होती है। और मानव के पुरुषार्थ में "सत्संग" ही मूल उपाय है। अतः मानव-जीवन जैसे अहैतुकी कृपा से मिला है, वैसे ही सत्संग का अवसर भी प्रभु की कृपा से ही मिलता है। अब बात यह है कि मुझे बोलना है और आपको सुनना है। कितना अच्छा हो कि मालूम हो जाय कि आप महानुभाव क्या सुनना चाहते हैं! आप अपने जीवन की चर्चा, आपके जीवन में जो कठिनाई हो, जो उलझन मालूम होती हो, उस सम्बन्ध में अगर प्रश्न करेंगे तो मैं प्रश्नोत्तर कर सकता हूँ। आप लोगों को अगर अपने जीवन में कोई कठिनाई मालूम होती हो, उस सम्बन्ध में आप प्रश्न करेंगे, तो आपको बहुत लाभ होगा। मेरे जानते बहुत लाभ होगा, अवश्य होगा। और इस तरह से तो एक समय था जब प्रणव ही वेद था, उसी से सारे वेदों का ज्ञान हो जाता था मानव को। फिर वेद-माता गायत्री वेद हो गया। फिर देखलो, वेद का प्रकाश कितना हुआ है! हजारों ग्रन्थ हो गए।

तो यह एक ऐसी अनन्त बात है जिसकी कोई सीमा नहीं है। अगर आप लोगों की कोई व्यक्तिगत कठिनाई है, तो हम

लोग उस पर विचार-विनिमय कर सकते हैं। सम्भव है आपको विशेष लाभ हो ही जाय।

तो मैं जब कभी कहता हूँ कि आप क्या सुनना चाहते हैं, तो उसका अर्थ यह नहीं होता है कि हम अमुक विषय की व्याख्या सुनना चाहते हैं। इसका अर्थ होता है कि आपकी कोई निजी कठिनाई है क्या ? जिस सम्बन्ध में आप सुनना चाहते हैं। हाँ, भाई, तो प्रश्न करना चाहते हो तो प्रश्न करो। आपका प्रश्न हो। आपके जीवन से सम्बन्ध रखने वाला हो। तब तो उसका लाभ है। और नहीं तो महाराज, कोई खास लाभ होता होगा, मुझे मालूम नहीं, खास अनुभव नहीं है। मै यह नहीं कहता हूँ कि लाभ नहीं होता, वरन् यह प्रथा चलती कैसे ! लाभ होता होगा, परन्तु मुझे अनुभव नहीं है।

श्रोता :—मैं प्रभु का हूँ. और प्रभु मेरे हैं—समझने में कठिनाई हो रही है।

स्वामीजी :—यह कठिनाई इसलिए हो रही है कि आपने कहा था कि समझने में कठिनाई हो रही है। बड़ी ईमानदारी की बात आपने कही है। प्रभु आज तक किसी की समझ में तो आया नहीं और आयेगा भी नहीं। जो समझने में नहीं आता, उसे समझने के द्वारा कैसे स्वीकार कर सकते हो ? बड़ी गम्भीर बात है। आपने बड़ा सुन्दर प्रश्न किया।

"मैं प्रभु का हूँ", "प्रभु मेरे हैं"—यह समझने के द्वारा कभी आप स्वीकार नहीं कर पायेंगे। क्यों ? अगर प्रभु समझ की सीमा में आता, तो हम कहते—देखो भाई हमने इस आधार पर समझ लिया। ठीक है, हम मान लेते हैं कि मैं प्रभु का हूँ। यह समझ की सीमा का प्रश्न है ही नहीं। यह प्रश्न

तो आस्थावान साधकों का प्रश्न है, जिन्होंने प्रभु के अस्तित्व को स्वीकार किया। कैसे किया? और ज्यादा कोई कैसे? कैसे? लगाये, तो इतना ही कह सकते हैं—वेदवाणी के आधार पर किया, गुरु-वाणी के आधार पर किया, भक्त-वाणी के आधार पर किया। भक्तों ने कहा कि परमात्मा है, इसलिए हमने मान लिया कि परमात्मा है। वेदों ने कहा कि परमात्मा है, इसलिए हमने मान लिया कि परमात्मा है। यह समझना नहीं होता। इसको स्वीकार करना होता है, मानना होता है।

आप देखिये न! समझ इन्द्रिय-दृष्टि पर काम करती है। यानी इन्द्रियों के द्वारा जो वस्तु आप देखते हैं, उस पर समझ अपना निर्णय देती है कि जैसा तुम समझे हो वैसा नहीं है। यानी इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को समझ समाप्त करती है। तब क्या होता है? कि जीवन में इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव नहीं रहता, इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्द्रिय-ज्ञान नहीं रहता—उलटा अर्थ मत लगा लीजिएगा। इन्द्रिय-ज्ञान तो रहता है, पर उसका प्रभाव नहीं रहता। तो जब इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव जीवन में नहीं रहता, तब इन्द्रियाँ अपने आप अविषय होती हैं, यानी अपने विषय को छोड़ देती हैं। और जब इन्द्रियाँ अविषय होती हैं तब मन निर्विकल्प होता है। ऐसा विधान ही है। अनुभव सिद्ध सत्य भी है। और जब मन निर्विकल्प होता हैं, तब बुद्धि सम होती है। यही बुद्धि-दृष्टि का सबसे अच्छा उपयोग है।

अथवा कर्त्तव्य के क्षेत्र में है। विज्ञान के आधार पर बुद्धि कहती है कि ऐसा करोगे तो उसका परिणाम ऐसा होगा।

ऐसा करोगे तो ऐसा होगा। इसके आगे बुद्धि-दृष्टि का परमात्मा की प्राप्ति में, या परमात्मा के मानने में कोई हाथ है नहीं। नहीं तो सभी बुद्धिमानों के अधीन हो जाता परमात्मा। परमात्मा के सम्बन्ध में बुद्धि का कोई काम नहीं है।

यह बात अलग है कि जब बुद्धि-दृष्टि सम हो गई आपकी, तो अपने आप बुद्धि के सम होने पर अगर आप में जिज्ञासा है तो विचार का उदय हो सकता। कर्त्तव्यनिष्ठ अगर आप हैं तो कर्त्तव्य-पालन की शक्ति आ सकती है। ऐसे ही अगर श्रद्धावान आप हैं, तो स्मृति जग सकती है।

तो स्मृति बुद्धि के प्रयास से नहीं जगी। आपने जो परमात्मा में आस्था की, श्रद्धा की, विश्वास किया और बुद्धि-दृष्टि से मन निर्विकल्प हो गया, इन्द्रियाँ विषय-विमुख हो गईं तो आपकी आस्था के कारण आपमें प्रभु की स्मृति जग सकती है, प्रियता उदय हो सकती है। तो स्मृति जगना और प्रियता का उदय होना, और जिज्ञासापूर्ति के लिए विचार का उदय होना, और कर्त्तव्यपालन के लिए आवश्यक-सामर्थ्य की उपलब्धि होना—यह सब बुद्धि के सम होने का फल हो सकता है। इस दृष्टि से अगर आप विचार करके देखेंगे, तो बुद्धि-दृष्टि का अच्छे-से-अच्छा उपयोग क्या हुआ भैया ? तो आपको मानना पड़ेगा कि इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव के मिटाने में—दृष्टि के मिटाने में नहीं—बुद्धि-दृष्टि का सबसे अच्छा उपयोग हुआ इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को मिटाने में। और जब इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिट गया हमारे जीवन में से, तब क्या हुआ ? तब इन्द्रियाँ अविषय होंगी अपने आप, मन निर्विकल्प हो गया, बुद्धि सम हो गई, अर्थात् भोग की जो रुचि थी वह योग में बदल गई।

अगर एक वाक्य में कहा जाय तो इसका अर्थ होता है कि इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव के मिट जाने के बाद भोग की रुचि योग में बदल जाती है। योग माने क्या है भाई? शास्त्रीय प्रक्रिया मैं नहीं जानता। योग माने—परमात्मा के साथ अत्यन्त समीपता। यह योग हुआ। जब परमात्मा की समीपता प्राप्त हुई, तो जिसकी समीपता प्राप्त होती है, उससे एकता भी हो जाती है। यह बोध हुआ। और जिससे एकता हो जाती है उससे अभिन्नता भी हो जाती है। यह प्रेम हुआ। मिला क्या? —योग, बोध और प्रेम। यह आपको प्राप्त हुआ। मिटा क्या?—भोग, मोह और आसक्ति। यह आपकी नाश हो गई। इस दृष्टि से बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव का बड़ा भारी महत्त्व है, बुद्धि का महत्त्व नहीं है। यह महत्त्व बुद्धि की उस दृष्टि का है जो दृष्टि इन्द्रिय-दृष्टि पर विजय प्राप्त कर लेती है—उस दृष्टि का है। नहीं तो बुद्धि ही तो, आप देखेंगे कि चोरी करने का तरह-तरह का तरीका बुद्धि ही बताती है। किस प्रकार से कानूनी चोरी की जाय कि इन्कम टैक्स बचाया जा सके! बुद्धि नहीं बताती क्या? बोलो, जी? तो उस बुद्धि का महत्त्व थोड़े ही है! वह भी उस दृष्टि का जो इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को न रहने दे, उस बुद्धि-दृष्टि का महत्त्व है।

और वह बुद्धि-दृष्टि कब प्राप्त होती है? जब बुद्धि विवेकवती हो। जब तक बुद्धि विवेकवित नहीं होती तब तक वह काम करने के लायक ही नहीं होती, सही काम कर ही नहीं सकती। तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि आपने बड़े सुन्दर ढंग से प्रश्न रखा, ईमानदारी से रखा कि "परमात्मा अपना है और हम परमात्मा के हैं।"—यह बात समझने के द्वारा सिद्ध

नहीं हुई। यह बात समझने में बड़ी कठिन मालूम होती है। मैं तो कहता हूँ कि सम्भव ही नहीं है, कठिन क्या मालूम होती है ! यह तो आस्था, श्रद्धा, विश्वास का विषय है।

परमात्मा है—इसका सबूत क्या है ? सिवाय इसके कि आपने चाहे वेद-वाणी से, चाहे गुरु-वाणी से, चाहे भक्त-वाणी से परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया। यही इसका उपाय हुआ। तो परमात्मा के स्वीकार करने की स्वाधीनता आपको आस्था के आधार पर है, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर है। और किसी प्रकार से नहीं है। फिर भी यदि आप परमात्मा को मानते ही हैं, या मानना चाहते ही हैं तो मानिये।

यहाँ एक बात और ज्यादा कहना जरूरी है। मान लीजिये, आप परमात्मा को नहीं मानना चाहते, तो भी आपको परमात्मा मिलेगा। आप चौंक जायेंगे कि कैसा आदमी है कि कहता है कि परमात्मा के न मानने से भी परमात्मा मिलेगा ! भाई, मानने से परमात्मा बनता थोड़े ही है ! और न मानने से कोई बिगड़ जाता है क्या ? तो मानने से क्या होता है कि हमारा सम्बन्ध परमात्मा के साथ हो जाता है। सम्बन्ध से स्मृति और प्रियता उदय होती है। और बस, उसकी प्राप्ति हो जाती है।

लोग कहेंगे कि ठीक है। न मानने से कैसे मिलेगा ? परमात्मा को न मानने का अधिकारी वही होता है जो सचमुच फिर किसी चीज को मान ही नहीं पाता। यह नहीं है कि हम परमात्मा को नहीं मानेंगे, संसार को मानेंगे, हम अपने को मानेंगे। तो अपने को मानना भी, संसार को मानना भी आप तर्क से सिद्ध नहीं कर सकेंगे। क्योंकि जिस संसार की स्थिति

ही सिद्ध नहीं होती, उसको आप मानेंगे क्या ? जब आपने अपने आपको कभी देखा ही नहीं, तो मानेंगे क्या ?

परमात्मा ही बिना देखा हुआ है, सो बात नहीं है। किसी भाई ने, किसी बहन नें "मैं" को कहाँ देखा है, बताओ ? बोलो, आपमें-से कोई हो बहादुर तो बताये—मैंने "मैं" को देखा है। जो देखा है, सो "यह" कहलाता है। "मैं" उसका नाम ही नहीं हुआ। तो जैसे "मैं" बिना देखा हुआ है, ऐसे ही "परमात्मा" भी बिना देखा हुआ है। लेकिन आप बिना देखे हुये "मैं" को मानें, और परमात्मा को न मानें—यह तो आपका न्याय नहीं होगा, यह तो आपकी दलील सही नहीं होगी।

और देखा हुआ संसार आप मान ही नहीं सकते। क्योंकि इसकी स्थिति सिद्ध नहीं होती। तो जब कभी मानने की बात आयेगी भाई मेरे ! तो बिना देखे की आयेगी, सुने हुये की आयेगी। देखे हुए की नहीं आयेगी। क्योंकि देखे हुए की स्थिति सिद्ध हुई नहीं, पकड़ में आया नहीं। इसलिए देखे हुए संसार को मान ही नहीं सकते। बिना देखे "मैं" को मानते हो, तो बिना देखे "है" को क्यों नहीं मानते ? अगर आप यह कहें कि हम परमात्मा को नहीं मानेंगे बिना देखे, तो बिना देखे "मैं" को क्यों मानते हो ? उसे भी मत मानो।

इस दृष्टि से अगर देखा जाय तो जब आप परमात्मा को भी नहीं मानेंगे और संसार को भी नहीं मानेंगे और अपने को भी नहीं मानेंगे, तो आप अप्रयत्न हो जायेंगे, अचाह हो जायेंगे, निर्मम हो जायेंगे, निष्काम हो जायेंगे, असंग हो जायेंगे। जहाँ निर्ममता आजायेगी, जहाँ निष्कामता आजायेगी, जहाँ असंगता

आ जायेगी, जहाँ अप्रयत्न आजायेगा, वहाँ अपने आप बिना किसी प्रयत्न के "मैं" "है" में विलीन हो जायेगा। तो "मैं" "है" में विलीन हो गया तब भी वही बात हुई, और जब "मैं" ने "है" को स्वीकार कर लिया तब भी वही बात हुई।

इसलिए परमात्मा का मिलना तो मानने, न मानने वाले दोनों के लिए समान है। अब भाई, आपकी मर्जी है। मानने की प्रणाली आपको पसन्द है, कि न मानने की! उसमें कोई घटिया-बढ़िया नहीं है, ऊँची-नीची नहीं है। कोई कठिन-सुगम नहीं है। जिसमें मानने की सामर्थ्य है वह मानकर परमात्मा को प्राप्त करे और जिसमें न मानने की सामर्थ्य है वह न मान कर परमात्मा को प्राप्त करे।

क्योंकि जो प्राप्त होता है उसी का नाम "परमात्मा" है। यों भी कह सकते हैं कि 'परमात्मा" ही प्राप्त होता है। और कुछ चीज प्राप्त होती नहीं। और चीज की तो प्रतीति होती है। और चीजों में तो प्रवृत्ति होती है, प्रतीति होती है; प्राप्ति तो होती नहीं। परमात्मा की आपको प्रतीति तो होती नहीं, इसलिए आपकी उधर प्रवृत्ति भी नहीं होती। प्रवृत्ति न हो, प्रतीति न हो तो भी तो निवृत्ति होगी न? प्रवृत्ति नहीं होगी तो निवृत्ति होगी। प्रतीति नहीं होगी तो विमुखता होगी। दृश्य की विमुखता, प्रतीति की विमुखता। तो निवृत्ति और प्रतीति की विमुखता से भी नित्य प्राप्त परमात्मा के साथ समीपता, एकता और अभिन्नता हो जाती है। इस दृष्टि से यह सिद्ध हुआ कि भाई, यदि कोई चीज प्राप्त होती है, तो उत्तर में लिखदो—परमात्मा। अगर कोई प्राप्त होता है तो परमात्मा

ही। और प्रतीति भी हो, प्रवृत्ति भी हो, प्राप्ति न हो तो भाई, उसी का नाम—संसार है। प्रतीति तो होती है उसकी, और प्रवृत्ति भी होती है, लेकिन प्राप्ति नहीं होती।

तो इस ज्ञान के द्वारा संसार की निवृत्ति होती है और आस्था, श्रद्धा, विश्वास के द्वारा परमात्मा को स्वीकृति होती है। जब हम परमात्मा को स्वीकार कर लेंगे—बड़ी अच्छी वैज्ञानिक बात मैं निवेदन कर रहा हूँ आपसे, अपने आप प्रेरणा हुई—तो निर्णयात्मक स्वीकृति के कारण या निर्णयात्मक स्वीकृति आजाने पर कोई प्रवृत्ति शेष नहीं रहती, प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। और जहाँ प्रवृत्ति समाप्त हुई, तब क्या होगा ? कि आपकी दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर हो जायेगी, आपका चित्त बिना आधार के शान्त हो जायेगा। और जब दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर हो गई और चित्त बिना आधार के शान्त हो गया, तो योग की प्राप्ति हो गई।

और जब योग की प्राप्ति हो जाती है तो बोध और प्रेम स्वतः प्राप्त हो जाता है। क्योंकि योग की पूर्णता हो और बोध न हो—यह हो ही नहीं सकता। और बोध हो और प्रेम न हो—यह हो ही नहीं सकता। जैसे भोग में मोह और आसक्ति रहती ही है। कोई नहीं कह सकता कि मैं भोग पसन्द करूँगा और मोह-आसक्ति मुझमें नहीं रहेगी। यह हो ही नहीं सकता। ऐसे ही जब योग की प्राप्ति हो जाती है तो बोध और प्रेम उसमें रहता ही है।

क्योंकि इन तीनों में स्वरूप से विभाजन नहीं होता। योग की पूर्णता में बोध और बोध की पूर्णता में प्रेम स्वतः ओत-प्रोत है, निहित रहता है। इसलिए भाई, किसी भी

प्रकार से योग प्राप्त करो। संसार की निवृत्ति के द्वारा भी योग की प्राप्ति होती है और परमात्मा के अस्तित्व को, परमात्मा के महत्त्व को, परमात्मा के अपनत्व को स्वीकार करने से भी परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध होता है। और आत्मीय सम्बन्ध से भी योग की प्राप्ति होती है। आत्मीय सम्बन्ध भी तो योग ही है, ओर क्या है ? इस दृष्टि से विश्वास के द्वारा भी परमात्मा की प्राप्ति होती है। और केवल विचार के द्वारा भी परमात्मा की प्राप्ति होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि चाहे ज्ञान का मार्ग हो तो, और विश्वास का मार्ग हो तो, 'परमात्मा' ही प्राप्त होता है, और कोई प्राप्त होने वाला है नहीं। इसलिए परमात्मा के लिए कह दिया गया—वह सदैव है। परमात्मा ने यह नहीं कहा कि मैं सदैव नहीं हूँ। सर्वत्र है। परमात्मा ने यह नहीं कहा कि मैं सर्वत्र नहीं हूँ। सभी का है, अद्वितीय है, समर्थ है। जो सदैव है वह अभी भी है, सर्वत्र है तो अपने में भी है। सभी का है तो अपना भी है। तो अपने में अपना परमात्मा अभी मौजूद है। इसी का नाम तो आस्था हुआ। और आस्था क्या है ? अपने में अपना परमात्मा मौजूद।

जब अपना होने से प्रिय है। और अपने में होने से वर्त्तमान की बात हो गई। उसकी प्राप्ति वर्त्तमान की चीज हो गई। क्योंकि अपने में है, अभी है। इस दृष्टि से विचार करके देखेंगे आप, तो परमात्मा की प्राप्ति ही मानव के लिए अत्यन्त सुलभ है, सहज है, स्वाभाविक है। और कोई चीज प्राप्त होती होगी, तो वह सभी के लिए, सदा के लिए सम्भव है नहीं। संसार में कोई वस्तु, कोई सामर्थ्य, कोई योग्यता ऐसी नहीं है कि जो सदा के लिए हो, सभी के लिए हो। इसलिए

जो सदा के लिये नहीं है, जो सभी के लिए नहीं है उसे विवेकियों ने अपने लिये स्वीकार नहीं किया। और विश्वासियों ने यह श्रवण करके कि परमात्मा सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है—यह स्वीकार करके परमात्मा को प्राप्त किया।

तो चाहे आप विवेकी होकर परमात्मा को प्राप्त करें और चाहे आप विश्वासी होकर परमात्मा को प्राप्त करें। प्राप्त परमात्मा ही होगा। और कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती।

अगर इस वास्तविकता में आपका विकल्प-रहित विश्वास हो जाय, तो जिसकी प्राप्ति में विकल्प-रहित विश्वास हो जाता है, उसकी तीव्र लालसा जाग्रत हो जाती है, उसकी माँग जाग्रत हो जाती है।

अब आप सोचिये कि यदि हमारे-आपके जीवन में परमात्मा की माँग जाग्रत हो गई, तो काम रह सकता है क्या? बोलो क्या राय है? अगर जीवन में परमात्मा की माँग जाग्रत हो गई, तो फिर कोई 'काम' रह जायेगा क्या? नहीं रहेगा। कर्त्तव्य नही, 'काम' नहीं रहेगा। यानी संसार का आकर्षण नहीं रहेगा। परमात्मा की माँग से संसार का आकर्षण नाश होता है, संसार नहीं नाश होता है।

और आकर्षण के नाश होने से अपने आप आपको निर्विकारता, निर्विकल्पता प्राप्त हो जायेगी। निर्विकल्पता जो है वह निस्सकल्पता से बहुत आगे की चीज है। यानी आप स्वतः निर्विकल्प होजायँ, कोई विकल्प आप में नहीं रहे। क्यों? संकल्प नहीं रहेगा, यों। संसार का आकर्षण नाश होने के बाद संकल्प का नाश हो जाता है। और संकल्प का नाश होने से निर्विकल्पता आ जाती है। और निर्विकल्पता में जीवन है,

रस है, स्वाधीनता है। इनमें कोई सन्देह की बात ही नहीं। इसलिए परमात्मा की प्राप्ति ही सर्व सुलभ है, बिल्कुल कठिन नहीं है।

श्रोता :—महाराज ! काम रहते हुए माँग अपने में उत्पन्न हो सकती है क्या ?

स्वामीजी :—माँग बीज रूप से तो रहती ही है, स्ट्रोंग नहीं होती, सवल नहीं होती। यह भी विचित्रता हैं कि काम के रहते हुय माँग रहती तो है, लेकिन सबल नहीं रहती। काम के नाश होने से माँग सबल होती है और फिर पूरी होती है।

श्रोत :—माँग उत्पन्न हो जाने पर ही 'काम' नष्ट होता है, ऐसा आपने अभी-अभी .... ?

स्वामीजी :—नहीं, नहीं। यह भी ठीक कहा। माँग जाग्रत होती है, *माँग की पूर्ति भी होती है*। और काम नाश नहीं हुआ है मान लीजिए थोड़ी देर के लिए, तो वही माँग की जाग्रति ही को काम नाश भी करती है। वैसे बीज रूप से तो माँग सभी में है। जैसे, अविनाशी जीवन किसको नहीं चाहिये? भोगी को नहीं चाहिये क्या ?

श्रोता :—जी, चाहिए

स्वामीजी :—इसका मतलब हुआ कि बीजरूप से तो माँग मौजूद हैं। परन्तु कठिनाई क्या है ? कि अविनाशी जीवन चाहिये—यह तो माँग बीज से हुई। परन्तु, उस जीवन की प्राप्ति मुझे हो सकती है—जब यह दृढ़तापूर्वक आप स्वीकार करेंगे, तब यह माँग सबल हो जायेगी। माँग सबल होगी, काम

नाश हो जायेगा। एक बात। दूसरी बात यह है कि काम की पूर्ति नहीं होती, काम में प्रवृत्ति होती है और प्रवृति का जो परिणाम है—शक्तिहीनता, असमर्थता, अभाव, नीरसता, पराधीनता प्राप्त होना है अपने को। वह किसी को पसन्द नहीं है।

श्रोता :—महाराज! ऐसे योगियों को भी काम-वासना में.......?

स्वामीजी :—देखो भाई, यह तो आपने पर-चर्चा कर दी। जीवन की चर्चा तो खत्म हो गई। गम्भीरता से सोचिये।

श्रोता :—यह तो अपने में भी अनुभव करता हूँ, स्वामीजी।

स्वामीजी :—मैं कब मना करता हूँ कि नहीं करते हैं? आपकी बात को गलत कहने का तो मेरा मतलब ही नहीं है। पर यह पर-चर्चा होगई! विवेकियों में भी काम रहता है। यह जो बात है न! और कामी में भी विवेक रहता है। तो विवेक के अनादर काल में काम रहता है कि आदर काल में?

श्रोता :—अनादर काल में।

स्वामीजी :—तो बस, तो मैं कहता हूँ—रोशनी हो रही हो और कोई आँख में पट्टी बाँध ले, जो उसमें आँख का अपराध तो नहीं है न? और न रोशनी का अपराध है, पट्टी का है। आपमें जो विवेक का प्रकाश, विश्वास का तत्त्व, बल का तत्त्व-ये तीनों प्रकार की शक्तियाँ हैं महानुभाव! प्रत्येक भाई में और बहन में ये हैं हीं। अगर बल का तत्त्व न होता, तो कुछ-न-कुछ कैसे करते?

श्रोता :—महाराज ! विषयाकर्षण में भी तो अपना बल है।

स्वामीजी :—देखिये, दृश्य में अपना बल है या हममें अपनी निर्बलता है ?

श्रोता :—हाँ, अपनी निबर्लता है। दृश्य में भी तो बल है आकर्षित करने का ?

स्वामीजी :—तो भाई, ऐसा न कह कर, कहें कि हमारी निर्बलता है कि दृश्य में आकर्षण होता है। और वह निर्बलता क्या है ? कि हम विवेक का अनादर करते हैं। जो विवेक का प्रकाश है उसका ठीक आदर नहीं करते।

विवेक तो है। ऐसे ही परमात्मा तो है, पर मिलता नहीं है। क्यों ? हम उसको पसन्द ही नहीं करते। पसन्द करते है कुछ और, और चर्चा करते हैं परमात्मा की। इसलिए परमात्मा मिलता नहीं। इसमें कुसूर परमात्मा का नहीं है कि क्यों नहीं मिलता। यह अपनी ही भूल है, क्योंकि हम उसे पसन्द नहीं करते। ऐसे ही यह विवेक का अपराध नहीं है, अपनी ही भूल है कि हम विवेक का आदर नहीं करते, विश्वास विकल्प-रहित नहीं है।

२६

प्रेमियों ने कभी नहीं सोचा कि प्यारे कैसे हैं और मेरे साथ क्या करेंगे ! क्यों ? वे मानते हैं कि प्रभु उनके हैं-और वे जानते हैं कि 'वे' जो करेंगे, वही मजे की बात होगी।

सर्वस्व समर्पण में सभी शंकायें डूब जाती हैं।

परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति साधक स्वयं अपने द्वारा करता है। आँख बन्द करने,कान बन्द करने, स्वांस रोकने, आसन लगाने अथवा मुद्रा साधने की आवश्यकता ही नहीं।

०

जिसे लोग जड़-जगत् कहते हैं, यह प्रभु की ओर आकर्षित करने की उनकी लीला है। संसार बेचारा भगवान् को याद दिलाने के लिये आपकी पकड़ में ही नहीं आया !

इस तरह यह सारी सृष्टि हमें निरन्तर प्रभु से मिलाना चाहती है। लेकिन हम प्रभु से विमुख होकर सृष्टि को प्रभु से विमुख करते हैं।

परमात्मा इतने महान् हैं, ऐसे परम सुहृद् हैं कि यदि आप उन्हें पसन्द कर लेंगे, तो वे अवश्य आपको अपनालेंगे।

२६

अ

प्रवचन :

जिसका कोई प्रिय होता है न ! उसके जीवन में नीरसता कभी नहीं आती। और जिसके जीवन में नीरसता नहीं आती, उसके जीवन में काम की उत्पत्ति होती नहीं—मुझे यह चाहिये कि मुझे वह चाहिये—यह तो नीरसता को मिटाने के लिये काम की उत्पत्ति होती है। नीरसता उत्पन्न होती है कब ? जिसका कोई प्रिय नहीं है, तब होती है। तो यह मान लिया कि 'प्रभु मेरे अपने हैं, 'अपने में हैं'—बाहर तलाश कहाँ करोगे ? 'अभी हैं'—तो आप भविष्य की आशा क्यों रखोगे ? समर्थ हैं'—तो डरने की बात क्या है ? 'अद्वितीय है' —तो कसौटी पर कसने की जरूरत ही नहीं है। अद्वितीय माने एक ही हैं। तो जब एक ही हैं, तो फिर कैसे हैं ? यह प्रश्न ही नहीं आता। तो प्रेमियों ने कभी यह नहीं सोचा कि 'वे' कैसे हैं ?—कभी नहीं सोचा। और यह भी कभी नहीं सोचा कि 'वे' मेरे साथ क्या करेंगे ! 'उनका' तो मुझ पर अधिकार ही है। मैं तो 'उनका ही हूँ, इसलिये 'वे' जा करेंगे वही मजे की बात होगी, उसी में मजा आयेगा। और 'वे' कभी-भी मुझसे अलग नहीं हो सकते।

अपनी सत्ता के बाहर 'वे' मुझे नहीं कर सकते, कभी भूल नहीं सकते। क्यों ? अपने हैं, यों। कैसे भूलेंगे ? कोई दो थोड़े ही है ! जो यह सोचना पड़ेगा कि वे क्या करते हैं, कहाँ रहते हैं ? आप खुद ही सोचिये कि किसी का कोई अपना हो तो वह उसके सम्बन्ध में कहाँ सोचेगा कि तुम क्या करते हो ? अपने हो, इसलिये मुझको प्यारे हो। जो तुम करते हो, उसी में मुझको मजा है।

अगर यह ताकत आ जाती हैं विश्वास के आधार पर साधक में, तब फिर वह बिल्कुल अचाह हो जाता है। क्यों ? अपनी कमी पूरी करने के लिये तो 'वे' अपने हैं ही। जब 'वे' अपने हें, तो आप स्वयं सोचिये कि हमको क्या कमी रहेगी ? बिल्कुल नहीं। क्या अभाव रहेगा ? और फिर हमें क्या चाहिए ? तो प्रेमीजन स्वभाव से अचाह हो जाते हैं, चाह उनमें कोई नहीं रहती। जब चाह नहीं रहती, तो अशान्ति कहाँ से आयेगी ?

अच्छा, कोई और उनका रहता नहीं तो बन्धन कैसा ? कोई और हो तब न ! बन्धन हो। और जो अपना है वह अपने में हैं ही है, तो बाहर तलाश कैसी ? तो प्रेमियों के जीवन में न तलाश रहती है, न बन्धन रहता है, न किसी प्रकार की कमी रहती है। केवल 'वे' अपने हैं, अपने को प्यारे लगते हैं। ऐसी बात नहीं है कि हम उन्हें अपना मानते हैं, इसलिए 'वे' हमको प्यारे लगते हैं। अरे बाबा ! हमें तो 'वे' अपना करके जानते ही है। इतना ही तो फर्क है ! भक्त में, भगवान में अन्तर क्या है ? भक्त तो मानते है कि प्रभु अपने हैं और प्रभु जानते हैं कि भक्त मेरा है।

तो जब यह नियम ही है कि अपना अपने को प्यारा लगता ही है। तो हम तो 'उनको' प्यारे लगते ही हैं, हमें भी 'वे' प्यारे लगें—इसी का नाम भक्ति है। भक्ति का अर्थ यह थोड़े ही है कि हम कोई बैठ कर अभ्यास करेंगे और उसका परिणाम कुछ होगा। उसको भक्ति नहीं कहते। भक्ति मानें—भगवान को हम प्यारे लगते ही हैं, हमें भी 'वे' प्यारे लगें। जब 'वे' हमें प्यारे लगते हैं, तब फिर हमें कुछ और भाता नहीं है। हमारी दृष्टि में कोई और रहता नहीं है। क्योंकि प्रेमियों की दृष्टि में प्रेमास्पद से भिन्न कभी कुछ रहा नहीं कभी-भी।

अब कोई और है नहीं, तो मन जायेगा कहाँ ? अब कुछ चाहिये ही नहीं, तो अशान्ति कैसी ? बताओ ? तो मन के लिये कोई ठोर रहता है क्या, कि कहाँ जायेगा ?

'प्रभु हैं'—इतने मात्र से, कोई और है'—यह बात जीवन में-से निकल जाती है। 'प्रभु हैं' —अगर ऐसा मानते हो, तो यह मान लो कि कोई और नहीं। यह तो रहा ऊँचे-से-ऊँचा दर्शन। और सरलता पूर्वक ऐसा मानलो कि भाई, अपना कोई और नहीं है। इस पचड़े में न रहना हो, तो यह मानलो कि अपना कोई और नहीं है।

नहीं तो महाराज ! यह दार्शनिक सत्य है कि अगर परमात्मा का अस्तित्व है, तो फिर जगत् का नहीं है। यह दार्शनिक सत्य है। अगर आत्मा का अस्तित्व है, शरीर का अस्तित्व नहीं है। क्योंकि आप यह सोचिये कि शरीर का भी अस्तित्व हो, और आत्मा का भी अस्तित्व हो, और दोनों विपरीत हों। कभी आपने अंधकार और प्रकाश को मिलते देखा है ?

श्रोता :—जी, नहीं ।

स्वामी जी :—कोई बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक अन्धकार और प्रकाश को मिलाकर दिखा सकता है ?

तो स्वयंप्रकाश आत्मा पर-प्रकाश्य शरीर के साथ कैसे मिल सकता है ? आप सोचिये । अखण्ड, अविनाशी, अनन्त, समर्थ, पूर्ण परमात्मा और सतत परिवर्तनशील जगत् दो स्वतन्त्र सत्तायें कैसे मिल सकती हैं ? नहीं मिल सकतीं ।

लेकिन अगर किसी को इस दार्शनिकता का बोध न हो और ये दार्शनिकता न भाती हो, तो वे भोले-भाले साधक यह कह देते हैं—'भैया, हमारा तो कोई और है नहीं ।' कोई कहता है कि संसार है ।—'होगा भैया !' कोई कहता है कि अमुक है ।—'होगा भैया, पर हमारा कोई और नहीं है ।'

अब यह बात हम अपने द्वारा न ! स्वीकार करेंगे ? इसमें आँख बन्द करेंगे कि कान बन्द करेंगे कि स्वाँस रोकेंगे कि आसन लगायेंगे कि मुद्रा लगायेंगे ? क्या शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण इनके द्वारा हम यह बात स्वीकार करेंगे कि हमारा कोई और नहीं है ? या कि अपने द्वारा हम यह बात स्वीकार करेंगे कि हमारा कोई और नहीं है ? अपने द्वारा स्वीकार करेंगे । जब हमने अपने द्वारा यह स्वीकार कर लिया कि हमारा कोई और है नहीं और उसके बाद कुछ ऐसा मालूम हुआ कि भाई, कुछ चारों ओर मालूम होता है, तो भक्त लोग कह देते हैं कि यह सब हमारे प्यारे की लीला होगी ।

जब यह मालूम होता है कि संसार है तो अगर संसार भासित हुआ भक्तों को तो, वे संसार शब्द नहीं जानते हैं,

वे तो जानते ही नहीं। जब लोग कहते हैं कि संसार है। तो बोलते हैं कि 'हमारा तो कोई और है नहीं। होगा भैया।' लेकिन जब उन्हे मालूम होता है कि कुछ है, तब कहते हैं कि 'यह तो हमारे प्यारे की लीला है।'

अब आप सोचिये कि प्रभु-विश्वासी साधक हर समय प्यारे की लीला को देखता है और प्यारे को अपना मानता है। तो अपना मानने से उत्तरोत्तर प्रेम वढ़ता है। और लीला देखने से उसको सुख मिलता है, रस नहीं। सुख मिलता है। क्योंकि अपने की कोई लीला देखे तो अपने को अच्छा लगता है कि नहीं ?—वाह प्यारे ! प्रातःकाल सूर्य उदय से पहले जब चिड़ियाँ चह चाहती हैं। तो जब प्रेमी देखता है कि 'प्यारे, तुम बड़े लीलाधारी हो ! तुम चिड़ियों के रूप में हमें सोते से जगा रहे हो ! तुम सूर्य के रूप में प्रकाश दे रहे हो ! तुम वायु के रूप में स्वाँस लेने दे रहे हो ! तुम जल के रूप में प्यास बुझा रहे हो ! तुम भूमि के रूप में आश्रय दे रहे हो ! मेरे को सुख देने के लिये तुम अनेक प्रकार की नित-नव लीलायें कर रहे हो ! तुम्हीं मेरे अपने हो ! और कोई मेरा अपना नहीं है।

प्यारे ! एक ऐसी लीला भी करो, कि मैं तुमको ही अपना मानूं। मैं कोशिश करूँ कि न मानूं, तब भी मेरे बस की बात न रहे !' अगर कुछ माँगना है प्रभु से, तो यहीं माँगो कि प्रभु मेरे बस की बात न रह जाय कि मैं किसी और को अपना मान पाऊँ, और मेरी दृष्टि में कोई और रह जाय अथवा मेरी दृष्टि कहीं और जाय। इतना ही नहीं, किसी और का आस्तित्व ही न रह जाय मेरी दृष्टि में ! जायेगी कहाँ दृष्टि ! जब किसी और का अस्तित्व मानूंगा तब न ! दृष्टि जायेगी।

जब किसी और का महत्त्व मानूंगा, तब न ! आकर्षण होगा ! तो 'प्रभु ! आप अपनी अहैतुकी कृपा से इतनी मुझ पर कृपा करना कि मेरी दृष्टि में किसी और का अस्तित्व, किसी और का महत्त्व न रह जाय। केवल तुम्हारा ही अस्तित्व रह जाय ! केवल तुम्हारा ही महत्त्व रह जाय और तुम्हीं में अपनत्व रह जाय !

अगर मैं किसी और के अस्तित्व को मान बैठा तो किसी और का महत्त्व भी न ! कहीं आजाय मेरी आस्था में, तो मैं तो आपसे विमुख होजाऊँगा !' अरे भाई, क्या भगवान् ने हमको अपने से विमुख किया है ? क्या किसी संसार ने कहा है कि तुम भगवान् से विमुख हो जाओ ? अरे, संसार तो बेचारा भगवान् की याद दिलाने के लिये आपकी पकड़ में ही नहीं आया अभी तक ! आप तो बहुत बड़े ·· पकड़ पाये क्या ? आप सच मानिये, जिसे लोग जड़ जगत् कहते हैं यह प्रभु की ओर आकर्षित करने की उनकी लीला है। यह सारी सृष्टि हमें निरन्तर प्रभु से मिलाना चाहती है।

एक पुष्प खिलता है, आप उसे देखकर खुश होते हैं। उसको दुःख होता है—हाय ! हाय !! मुझ में जिसकी सुन्दरता है, मुझ में जिसकी सत्ता है, यह उसे नहीं देखता ! अब मैं नहीं जिन्दा रह सकता ! पुष्प मुरझा जाता है। आपको सन्देश देता है—तुम मुझको देखते हो ? मुझमें मेरा कुछ नहीं है, मुझमें जो सौन्दर्य है, वह उस अनन्त सौन्दर्य का है। मुझमें जो सत्ता है, वह उस स्वतन्त्र सत्ता की है। तुम मुझे मत देखो ! आप देखेंगे कि सारा संसार हमें और आपको सदैव इस ओर संकेत कर रहा है—मुझे मत देखो ! उसको देखो, जो तुममें है,

तुम्हारा है। मुझे मत देखो ! जब हम 'उनको' देखने लगते हैं तब कह बैठते हैं—"दर-दीवार दरपन भयो जित देखूं तित तोय ! यह हमारी दृष्टि का परिवर्तन है। वास्तव में तो 'वे' है हीं।

आप सोचिये कि अगर किसी वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो वह वस्तु हमारी पकड़ में आजाती। वस्तु का अस्तित्व नहीं है, अस्तित्व प्रभु का ही है। अगर शराब में मस्त करने की ताकत होती तो वोतल को मस्त कर देती। यह ताकत प्रभु में है और प्रभु अपने में है, इसलिये वह मस्ती आती है। नहीं तो शराब से वोतल को मस्त हो जाना चाहिये।

अगर मान लीजिये, खुराक में शरीर को ताकत देने की ताकत होती, तो खुराक तो खाते ही रहे आप, कमजोरी आ कहाँ से गई ? बल नाश हो कहाँ से गया ? अगर संसार की भोग-सामग्री में सुख होता, तो भोग तो भोगते ही रहे। पर आज भूखे क्यों हैं ? आज अभाव क्यों है ?

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संसार की प्रत्येक गति-विधि भी हमें अपने प्यारे की ओर धकेल रही है, फेंक रही है। पर हम आपसे क्या बतायें ! जिस समय साधक प्रभु विश्वास को लेकर, सब ओर से विमुख होकर प्रभु की ओर आकर्षित होता है, उस समय यह सारी सृष्टि हर्ष मनाती है, जय-जयकार करती है। और आपके साथ-साथ स्वयं अपने प्रेमास्पद की ओर गतिशील होती है।

हम प्रभु से विमुख होकर सृष्टि को प्रभु से विमुख कर रहे हैं। और सृष्टि हमें सदैव संकेत दे रही है—'मुझे मत पकड़ो, मुझे मत मानों ! मुझमें मेरा करके कुछ नहीं है। जिसकी

तुमको माँग है, मुझको भी उसी की माँग है। पर 'वह' तुम्हीं में है ! मुझमें वह होता तो मैं तुम्हें पेश कर देती। लेकिन वह तो तुम्हीं में है।

जब तुम सब ओर से अपने को हटा लेते हो और प्रभु की ओर आकर्षित होने की आवश्यकता अनुभव करते हो। कोई आपको श्रम नहीं होता है, प्रभु को ओर चलने में। कोई आपको कठिनाई नहीं होती। केवल जब आप आवश्यकता अनुभव कर करते हो—"प्रभु ! मेरा कोई और नहीं है, और मुझे कुछ नहीं चाहिये, आप ही मेरे अपने हो।" उसी समय सारी सृष्टि अपना भेष बदल-वदल कर आपसे अभिन्न होकर प्यारे की प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करती है।

आप जानते हैं, लोग कहते हैं—"सिया राम मय सब जग जानी, करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।" अरे बाबा ! सिया और राम ही तो हैं ! और कुछ है थोडे ही ! सिया और राम ही तो हैं ! इसलिए सृष्टि भी हममें विलीन हो जाती है। हम 'उनकी' प्रीति हो जाते हैं। और प्रीति होकर उनको जब रस मिलता है, तो प्रीतम स्वयं प्रीति होते हैं। 'उनकी' ओर से आई हुई प्रीति जब लौट कर उनकी ओर जाती हैं, तो रस का कोई वारापार नहीं रहता। और ये प्रीति और प्रीतम का जो नित्य विहार है, इसकी कोई सीमा नहीं है। इसका कभी नाश नहीं होता। यह अविनाशी है, यह असीम है, यह अनन्त है। इसीलिए कहा गया है कि प्रीति जो वह प्रीतम को रस प्रदान करती है।

वास्तव में प्रीति आती कहाँ से है ? सत्ता किसकी है ? 'उन्हीं' से आती है। अगर उन्हें प्यारे न लगते होते, तो सच

मानिये हमें कभी याद तक न आती। यह जो हर भाई के जीवन में, हर बहन के जीवन में एक उदासी रहती है, एक अभाव रहता है, सोचता रहता है, कि—कहाँ रस है ? कहाँ जीवन है ? कहाँ पूर्णता है ? और उसके लिए अपनी भूल से जब परिस्थितियों की ओर सम्बन्ध जोड़ता है, सृष्टि की ओर सम्बन्ध जोड़ता है, तो एक बार नहीं, अनेक बार धोखा खाता है, प्रत्येक पल में धोखा खाता है। प्रीतम कहाँ हैं ! रस कहाँ है ! जीवन कहाँ है ! पता चलता है कि अपने में है, अपने में है।

अब अपने में अपना प्रीतम है—यह आस्था ही वास्तव में आस्था है। तो जब हम अपने में अपने प्रीतम को स्वीकार करते हैं, तब स्वभाव से सब ओर से विमुख होते हैं। स्वभाव से हमारी गति अन्तर्मुख हो जाती है। आजकल लोग कहते हैं– अन्तर्मुख गति करो। पत्थर करो। अरे बाबा ! जब हम अपने में अपने प्रीतम को स्वीकार करेंगे, तब गति अन्तर्मख होती ही है। तो जो चीज होती है वह है—साधना। और जो "है" वह है साध्य।

तो साधना भी हममें है और साध्य भी हममें है। तो साधना से साध्य को रस मिलता है। और हम असाधनरहित होते हैं। लेकिन जब हम असाधन-रहित हो जाते हैं तो साधना जो है वह प्रियता के रूप में परिणत हो जाती है फिर। फिर उसका एक ही रूप हो जाता है अद्वितीय प्रियता, अखण्ठ प्रियता, अगाध प्रियता।

आप देखेंगे, प्रियता 'प्रिय' को रस देती है और उसका कोई काम ही नहीं हैं। और प्रियता कभी पूरी नहीं होती, कभी उसका नाश नहीं होता। उसी प्रियता को भक्ति-तत्त्व भी कहते हैं, उसी प्रियता को। उसी प्रियता का जो बाह्य रूप

आता है व्यवहार के क्षेत्र में वह "सेवा" कहलाती है। उसी प्रियता का जो विचार का रूप होता है वह "त्याग" कहलाता है। और जब ये तीनों चीजें इकट्ठी हो जाती हैं—सेवा, त्याग, प्रेम—वही भक्ति है।

उस भक्ति से भगवान को रस मिलता है। असल में भगवान् को रस भगवान् की भक्ति देती है। लेकिन उस भक्ति को अभिव्यक्त होने के लिए हमें और आपको भक्त होना है। भक्त होने का अर्थ क्या है? भगवान् से जातीय सम्बन्ध नित्य सम्बन्ध और आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना है।

कभी किसी सद्ग्रन्थ ने यह नहीं कहा कि वह भी समय कभी आता है, जब गौरी और शंकर का विहार समाप्त होता है। कभी नहीं कहा, कभी नहीं कहा। कभी किसी भक्त ने यह नहीं कहा कि वह भी समय कभी आता है, जब सीता और राम का विहार समाप्त होता है। कभी नहीं कहा कि राधा और कृष्ण का विहार समाप्त होता है। आप ही बतलाइये कि प्रीति और प्रीतम का विहार कैसे समाप्त होजायेगा? कभी समाप्त होता ही नहीं।

इसलिए वही जीवन है, वही अविनाशी है। यह जो जीवन का अभाव है, यह जीवन की जो नीरसता है वह तभी समाप्त होगी, जब हमी में अर्थात् भक्त में भक्ति का अवतरण हो। अब भक्ति का अवतरण—ये अपने आप होता है। और सत्संग के द्वारा हम भक्त होते है। सत्संग का अर्थ क्या है? सत्य को स्वीकार करने से हम भक्त होते हैं। "सत्य" क्या है?—जिसे मैं देखता था, जिसकी ओर मैं दौड़ता था, वह है नहीं। क्यों नहीं है? क्या दलील है?—होता तो मुझे मिलता! वह है नहीं अर्थात् सृष्टि है नहीं।

किन्तु है क्या ? जब मैं इस सत्य को स्वीकार करता हूँ कि सृष्टि नहीं है, तब अपने आप स्वतः स्वभाव से समस्त इन्द्रियाँ अपने विषय से विमुख होकर मन में विलीन होती हैं, मन निर्विकल्प होता है, बुद्धि सम होती है।

यह किस बात का फल है ?--यह इस बात का फल है कि सृष्टि नहीं है—केवल इसका। या मेरे लिए नहीं है भाई-जैसा कि कहा था। सृष्टि नहीं है--इसका फल है कि आपको जो अपने और अपने प्रीतम के बीच में जो दूरी मालूम होती है, वह समाप्त हो जाय और प्रीतम की समीपता की उपलब्धि हो जाय। इसको योग कहते हैं। परमात्मा से जो हमें समीपता प्राप्त होती है न ! वह योग से होती है। सृष्टि नहीं है--इस सत्य को स्वीकार करने के बाद अपने आप योग की अभिव्यक्ति होती है। उस योग के बाद जो उस योग में गति है, तो पहले वह योग "बोध" में परिवर्तित होता है। क्योंकि जिसकी हमें समीपता प्राप्त होती है, उसके साथ हमारी एकता भी होती है। और उसके बाद "बोध" जो है वह "प्रेम" में परिणत होता है।

तो तात्पर्य क्या निकला ? कि प्रिय-मिलन के लिये योग, बोध और प्रेम अपेक्षित हो गया। और योग, बोध, प्रेम के लिये केवल एक ही सत्य--मेरा कोई और नहीं है, किसी और का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। कोई और नहीं। हो सकता नहीं, कभी होगा नहीं।

कोई और नहीं है--यह ज्ञान है। और कोई गैर नहीं है--यह आस्था है। गैर नहीं है कोई--अर्थात् अपने ही है। और यह बात जब आ जाती है जीवन में कि कोई और है नहीं, तभी भक्त लोग कह बैठते हैं कि मेरे मन में किसी और के लिये

तो ठौर ही नहीं है। और जब ये बात आ जाती है कि कोई गैर नहीं है, तब भक्त लोग कह उठते हैं कि मेरे पास मन ही नहीं है।

यह सब जो भक्त-चरित्र है, भक्त-गाथा है—ये भक्ति-तत्त्व की ओर ले जाने का संकेत है, इशारा है। क्या सोचते हो? कोई और तो नहीं। अरे, इतना ही नहीं, गैर भी तो नहीं है कोई? जहाँ गैरियत मिटती है, वहाँ न! प्रियता उदित होती है। जहाँ और-पन मिटता है, वहाँ न! अभयपन होता है। इसका अनुभव कीजियेगा। जब तक कोई और होता है, तब तक न! भय होता है। जब तक गैरियत होती है, तब तक प्रेम पैदा होता है। क्या? नहीं तब तक प्रेम नहीं पैदा होता। तो कोई और नहीं है, कोई गैर नहीं है—यदि इस सद्गुरु वाक्य में हमारी आस्था हो जाय, यदि हमारा विश्वास हो जाय तो महाराज! अभी-अभी हम सब भक्त हो जायँ। और भक्त होने के बाद भगवत्-कृपा से स्वतः भक्ति की अभिव्यक्ति हो जाय। और भक्ति की अभिव्यक्ति होने से यह जीवन भगवान् के काम आ जाय। यही इस जीवन का सार सर्वस्व है। हम-सब प्रभु की कृपा से भक्त होकर भक्ति-तत्त्व में प्रवेश पा जायें, जिससे भगवान् को रस मिले।

इसी सद्भावना के साथ सभी को प्रणाम्!

ब

जिस समय आपका देश आजाद हुआ था, अँग्रेजो शासन यहाँ से समाप्त हुआ था, उस समय मैंने राजेन्द्र बाबू से पूछा कि—"बाबू जी ! यह बताइये कि लीडरी का अन्त यदि मिनिस्ट्री में हो जायेगा तो लोडर कहाँ से आयेगा ?' और वही हुआ। नतीजा यह हुआ कि देश नेता-विहीन हो गया। आप देखिये, आज देश की नैतिकता कितनी गिर गई ! गिर गई कि नहीं ? जी, गिर गई ?

श्रोता :—हाँ।

स्वामी जी :—मतलब क्या हुआ ? जो नेता मिनिस्टर बन जायेगा। तो नेता नहीं रहेगा। तो सरकार में और प्रजा में एकता कौन रखेगा ? क्या राय है ? नेता ही रख सकता है। समझ में आ गया न ?

इसी तरह से अगर सेवा का अन्त त्याग में नहीं हुआ तो सेवा क्या हुई ! सेवा क्या हुई ? सेवा तो नहीं हुई। और त्याग का अर्थ क्या है भैया ? त्याग का अर्थ केवल घर छोड़ देना नहीं है, हिमालय की कन्दरा में घुस जाना नहीं। त्याग का अर्थ है कि हर मानव, हर भाई, हर बहम ज्ञानपूर्वक यह अनुभव करे कि संसार में मेरा कुछ नहीं है। त्याग का एक अंग। दूसरा अंग—मुझे कुछ नहीं चाहिये। मेरा कुछ नहीं है,

मुझे कुछ नहीं चाहिए। जहाँ मेरा कुछ नहीं है तो शरीर और संसार का तो विभाजन हो ही नहीं सकता। यानी तीनों शरीरों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं हैं, मेरे नहीं हैं। संसार से मुझे कुछ चाहिए नहीं। मिला हुआ मेरा नहीं है। जो दिखाई देता है उससे कुछ चाहिये नहीं। यह हुआ त्याग।

इस त्याग का फल होता है कि आप अपने में सन्तुष्ट हो जायेंगे अपने आप। और जब आप अपने में सन्तुष्ट हो जाते हैं। तो फिर भगवान् की वाणी है—गीता भगवती—देखो मेरी आदत नहीं प्रमाण देने की, पर आप लोग मानेंगे थोड़े ही—तो उसमें लिखा है कि आत्मरति, आत्मतृप्ति, आत्म सन्तुष्टि होने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। पढ़ लेना। (हास्य) तो आत्म-सन्तुष्टि अपने में सन्तुष्ट होने से तीन चीजें मिल जायेंगी—अविनाशी-जीवन, स्वाधीन-जीवन, रस रूप जीवन। रस-रूप जीवन कहो, चाहे प्रेम कहो। स्वाधीन-जीवन कहो, चाहे मुक्ति कहो। अविनाशी-जीवन कहो, चाहे नित्य जीवन कहो।

तो अगर आपको स्वाधीन, अविनाशी, रस रूप जीवन चाहिये तो अपने में अपने को सन्तुष्ट करना ही होगा। अब कोई कहे कि साहब, अपने में सन्तुष्ट करने से यह क्यों मिल जायेगा ? तो वहाँ मैं यह कहता हूँ कि भाई, अपने में परमात्मा है। ये तीनों विशेषण परमात्मा के हैं—जिसका कभी नाश न हो, जो परम स्वतन्त्र हो, जो अगाध-अनन्त रस रूप हो—ये परमात्मा ही के लिये विशेषण हैं। अनन्त रस, परम स्वतन्त्र, अविनाशी परमात्मा ही है। तो इसलिए, चूंकि अपने में सन्तुष्ट हो जायेंगे तो परमात्मा मिल जायेगा।

अब हम बेपढ़े-लिखे लोग तो ऐसे सन्तोष करते हैं। और पढ़े-लिखे सोग क्या कहते हैं ? कि साहब, वह तो मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म मुझ में नहीं है—यह पढ़े-लिखों की बात है भाई। तो वे जाने। यह भी एक तरीका है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि वह पद्धति गलत है। वह भी है एक। पर मैं उससे परिचित नहीं हूँ। मैं इससे परिचित हूँ कि यदि मनुष्य चाहे तो शरणागत होकर, चाहे अचाह होकर, चाहे बल के सदुपयोग के द्वारा—जरूरी काम पूरा करके, बिना जरूरी काम छोड़ के– किसी तरह से अपने में सन्तुष्ट हो जाना चाहिये। तो आपको अपने में परमात्मा मिल जायेगा। अवश्य मिल जायेगा। और यह कहने-सुनने की बात नहीं है, यह तो आपके अभी अनुभव करने की बात है। आप अपने में सन्तुष्ट होकर देखिये तो सही। विना अचाह हुये आप अपने में सन्तुष्ट हो नहीं सकते, जरूरी काम बिना पूरा किये अपने में सन्तुष्ट हो नहीं सकते। बिना जरूरी काम को बिना छोड़े सन्तुष्ट हो नहीं सकते, समर्पित हुये बिना हो नहीं सकते।

तो चाहे आस्था के आधार पर शरणागत होकर अपने में सन्तुष्ट हो जाइये, चाहे कर्त्तव्य-पथ से अपने में सन्तुष्ट हो जाइये, चाहे विचार-पथ से अपने में सन्तुष्ट हो जाइये। अपने मैं सन्तुष्ट होने पर परमात्मा की प्राप्ति होती है। यह अनुभव सिद्ध सत्य है। फिर भी न जचे तो मत मानिये। इसमें कोई आपत्ति तो है नहीं, मेरा कोई आग्रह तो है नहीं। मैं यह थोड़े ही कहता हूँ कि जो मैं कहता हूँ, सो आप मान लीजिये। लेकिन अगर आपकी समस्या हल हो,तो मान लीजिये,नहीं तो मत मानिये। अनेकों मार्ग हैं, अनेकों लोग हुए हैं, अनेकों ढंग से एक ही परमात्मा को प्राप्त किया है, कोई एक ढंग से तो किया नहीं है।

अरे, जब दो व्यक्ति भी समान योग्यता, रुचि, सामर्थ्य के नहीं हैं, तो सबकी एक साधना कैसे हो सकती है ? एक तरीका कैसे हो सकता है ? अलग-अलग ही होगा। तो मेरा निवेदन यह था कि आप अगर भगवान को मानते ही हैं तो मानिये। मैं मजबूर नहीं करता हूँ। क्योंकि इससे बड़ा मैं भगवान् का क्या अपमान करूँगा कि आपसे प्रार्थना करूँ कि आप मान लीजिए ! तो हमारे भगवान् इतने घटिया होगये कि जो आपसे प्रार्थना की जाय ? यह तो मैं बड़ा भारी अपमान समझता हूँ भगवान् का। हाँ, अगर आपका काम नहीं चलता, तो मान लीजिए। तो वे इतने उदार हैं ! इतने महान् हैं ! इतने परम सुहृद हैं ! कि अगर आप उनको पसन्द कर लेंगे तो वे आपको अवश्य अपनालेंगे। चाहे आपका भूतकाल कैसा ही बीता हो !

आप विचार कीजिए, अमूल्य परमात्मा, अनमोल परमात्मा आपके छोटे-मोटे मोलों से नहीं मिला करता। क्या सीमित गुणों से कहीं अनन्त गुणों वाला प्राप्त हुआ है ? कहीं सीमित बल से अनन्त बलवाला प्राप्त हुआ है ? असम्भव, सर्वदा असम्भव ! हाँ, समर्थ की प्राप्ति का एक ही जरिया है कि उसको पसन्द कीजिए, उसके होकर रहिये, उसके नाते वर्तमान कार्य को विधिवत् कीजिए। यह उसकी पूजा है।

आप काम करते हो, हम कहते हैं भाई ! पूजा करो। आप अभ्यास करते हो, हम कहते हैं कि स्वीकार करो। आप बौद्धिक परिश्रम करते हो, हम कहते हैं भाई ! ज्ञानपूर्वक अनुभव करो। इतना ही तो फर्क है। और तो कोई फर्क है ही नहीं। बाकी मैं आप जो करते हो, उसका बिरोध थोड़े ही करता हूँ। मेरा विरोध नहीं है। किसी भी साधन प्रणाली से मेरा विरोध नहीं है।

हम क्या बतायें ! हमारे यहाँ एक दफा आश्रम में एक अंग्रेज आया। और उन दिनों साधन-सत्संग मास चल रहा था। एक महीने के लिए सत्संग आयोजन किया था। तो उसने कहा— क्या मेरा हर बैठक में (हर सिटिंग कहते हैं अंग्रेजी में शायद), बैठना शामिल-होना जरूरी है ? मैंने कहा– बिल्कुल नहीं। बोला, तब भी मैं यहाँ ठहर सकता हूँ ? मैंने कहा—जरूर ठहर सकते हो। अरे, हम अपनी बैठक का अपमान करें कि आपके बैठने से हमारी बैठक बनेगी ! तो उसने कहा—कि ऐसा तो मैंने आश्रम देखा नहीं, जहाँ इतनी स्वाधीनता हो। फिर उसने कहा—आप मुझे मैडीटेशन बता सकते हैं क्या ? ध्यान करना बता सकते हैं क्या मैंने कहा — नहीं। बोले, क्यों ? मैंने कहा—तुमसे होगा नहीं, यों।(हास्य) अरे भाई ! बताया जाय और न हो, तो लाभ क्या हुआ ?

तो मैं यह निवेदन करता हूँ आपसे कि अगर परमात्मा के मानने वालों को परमात्मा की याद नहीं आती, और करनी पड़ती है—यह कोई कम दुःख की बात है ? यह कम आश्चर्य की बात है ? क्यों भैया ? अरे, मरे हुए बुजुर्गों की याद आती है आपको, गये हुए धन की याद आती है आपको। नहीं आती ? जी ? तो परमात्मा इतना घटिया हो गया कि उसकी याद आपको करनी पड़े ? क्या राय है ?

श्रोता :—कुछ संस्कार..........?

स्वामीजी :—बेकार बात मत करो यार। संस्कार-फंस्कार कुछ नहीं। गलत बात। मै बताता हूं। याद नहीं आती है इसलिये कि आप अपना नही मानते। देखो, संस्कार सामने आसकता है। अगर 'हाँ' न करें तो मिट जाता है। वह मन्त्र

भी हमको मालूम है। लेकिन लोग तो प्रश्न करते ही नहीं। हम कहाँ से क्यों, अपनी तरफ से क्या खोज-खोज कर निकलें? जितने संस्कार हैं वे क्या काम करेंगे? संस्कार होते हैं भोगे हुए के। जिन सुखों को आपने भोगा है, उनका ख्याल आयेगा। यही न! संस्कार है? बोलो? और तो नहीं है न? तो पहले मानो, तो आगे बढ़ूँ। बिल्कुल यही है न?

श्रोता :—हाँ।

स्वामीजी :—अच्छा, कोई आपके सामने चाय का कप रखे और आप न पियें, तो चाय देखने से आपको पाप लग जायेगा क्या? बोलो? और संस्कार आया और आपने समर्थन नहीं किया। क्या करेगा वह?

श्रोता :—समर्थन कैसे न करें?

स्वामीजी :—हमारी राय है, न करो। संस्कार का समर्थन न करना—यह अपने हाथ की बात है। संस्कार को चिन्तन से मिटाना बिल्कुल अपने हाथ की बात नहीं है।

श्रोता :—महाराज! भीतर क्या है जो समर्थन करा देता है?

स्वामीजी :—देखो भाई, समर्थन कुछ नही करा देता है। तुम लोगों को तो भ्रम हो गया है। आप लोगों को यह भ्रम हो गया है कि हम बलपूर्वक संस्कार मिटा लेंगे। यह भ्रम हो गया है कि हम चिन्तन से चिन्तन को मिटा लेंगे।

मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि जो होने वाला चिन्तन है न! उसको आप करने वाले चिन्तन से मिटना चाहते हो—यह कभी नहीं मिटेगा। करने वाला अखण्ड है नहीं। अब होने

वाला चिन्तन मिटता है होने वाली स्मृति से । यानी होने वाला चिन्तन मिटता है होने वाले चिन्तन से । तुम होने वाले चिन्तन को मिटाना चाहते हो करने वाले चिन्तन से । उससे डरते क्यों हो ? देखते रहो, बिल्कुल देखते रहो। अगर तुम 'हाँ' नहीं करोगे, तो वह नाश होजायेगा । और उससे लड़ोगे नहीं, तब भी नाश होजायेगा । और उससे अपने को मिलाओगे नहीं, तब भी नाश हो जायेगा । तीन तरह से नाश हो जायेगा—हाँ मत करो, उससे लड़ो मत, उससे अपने को मिलाओ मत ।

एक दिन की घटना याद आ गई । हमारे पास तो बहुत बड़े-बड़े तार्किक आते हैं। देवकी जी शुरू-शुरू में आई थी। उस समय की बात कहता हूँ । बहुत तर्क करतीं थीं । मनोविज्ञान की पण्डित ठहरीं भाई । तो ऐसी-ऐसी दलील रखतीं थीं कि हम आपको क्या बतायें ! हम टहलने जाते थे कई आदमी मिलकर और जाकर बैठते थे एक जगह । वहाँ हमने कोई एक पत्थर उठाया । और उठाकर उसे खूब प्यार किया और ईमानदारी से प्यार किया, कभी आँसू भी आजायँ । जैसे ईमानदारी से प्यार करते हैं शरीर द्वारा प्यार किया और वहाँ से चलें तो कहदें 'देखो भाई, कल फिर मिलना ।' चले आयें । दूसरे दिन जायँ, बैठ जायँ । हमारा हाथ उसी पत्थर पर चला जय । हमने किसी से पूछा नहीं कि हमारा पत्थर ढूँढ दो । आँखों से अन्धे । कई दिनों तक यह होता रहा। लड़कियाँ कहें कि स्वामी जी क्या करते हैं ये ? कहा कि कुछ नहीं करते हैं । आखिर जब कई दिन हो गए हमको वह पत्थर मिलता ही रहा । तो हम देवकी जी से पूछा कि देवकी जी ! बताओ तुमने देखा ? मैंने पत्थर को तुमसे दिखवाया था क्या ?—नहीं तो । अच्छा, मिल जाता था कि नहीं ?—हाँ

मिल जाता था। तो देखो, प्यार ऐसी चीज है जो पत्थर को भी पसन्द आता है, तो परमात्मा को पसन्द नहीं आयेगा? (हास्य)।

तो भाई, होने वाले चिन्तन को आप मिटा नहीं सकते। और इसमें आप ही के जीवन का अनुभव है कि कितना काल बीत गया आपको चिन्तन करते करते। ऐसा-वैसा मानकर आपको थोड़े ही कहता हूँ। आपको वर्षों हो गया जप करते हुए, वर्षों हो गया चिन्तन करते हुए, वर्षों हो गया पोथी पढ़ते हुए, वर्षों हो गया अभ्यास करते—नहीं हो गया क्या? फिर भी आपको वही शिकायत है। नहीं तो आपकी शिकायत नहीं होनी चाहिए थी।

श्रोता :—महाराज! इस अनर्थ का हेतु संस्कार है?

स्वामीजी :—संस्कार अनर्थ का हेतु नहीं है। अनर्थ का हेतु वह कर्म है जिससे संस्कार बना है। लेकिन आप मनोविज्ञान से अपरिचित से मालूम होते हो। द्वेष का चिन्तन करते-करते, संसार की निन्दा करते-करते निन्दनीय स्वभाव बन गया है हमारा। कोई चीज अनर्थ का हेतु नहीं है। हमारी भूल अनर्थ का हेतु है। और भूल यही है कि हम संस्कार का समर्थन न करें। बस, खतम। हम परमात्मा को पसन्द करें। हम बुराई न करें, हम भलाई का अभिमान न रखें। ठीक।

देखिए, आप जो कहते हैं, वह तो बहुत बड़ी ऊँची बात कहते हैं और परम्परा की बात कहते हैं। किन्तु सारे शास्त्रों का ज्ञान नहीं है आपको। माफ कीजिए, बुरा मत मानियेगा। शास्त्रों में पूर्व पक्ष भी होता है और उत्तर पक्ष भी होता है।

वाला चिन्तन मिटता है होने वाली स्मृति से। यानी होने वाला चिन्तन मिटता है होने वाले चिन्तन से। तुम होने वाले चिन्तन को मिटाना चाहते हो करने वाले चिन्तन से। उससे डरते क्यों हो ? देखते रहो, बिल्कुल देखते रहो। अगर तुम 'हाँ' नहीं करोगे, तो वह नाश होजायेगा। और उससे लड़ोगे नहीं, तब भी नाश होजायेगा। और उससे अपने को मिलाओगे नहीं, तब भी नाश हो जायेगा। तीन तरह से नाश हो जायेगा—हाँ मत करो, उससे लड़ो मत, उससे अपने को मिलाओ मत।

एक दिन की घटना याद आ गई। हमारे पास तो बहुत बड़े-बड़े तार्किक आते हैं। देवकी जी शुरू-शुरू में आई थी। उस समय की बात कहता हूँ। बहुत तर्क करतीं थीं। मनोविज्ञान की पण्डित ठहरीं भाई। तो ऐसी-ऐसी दलीलें रखतीं थीं कि हम आपको क्या बतायें ! हम टहलने जाते थे कई आदमी मिलकर और जाकर बैठते थे एक जगह। वहाँ हमने कोई एक पत्थर उठाया। और उठाकर उसे खूब प्यार किया और ईमानदारी से प्यार किया, कभी आँसू भी आजायँ। जैसे ईमानदारी से प्यार करते हैं शरीर द्वारा प्यार किया और वहाँ से चलें तो कहदें 'देखो भाई, कल फिर मिलना।' चले आयें। दूसरे दिन जायँ, बैठ जायँ। हमारा हाथ उसी पत्थर पर चला जय। हमने किसी से पूछा नहीं कि हमारा पत्थर ढूँढ दो। आँखों से अन्धे। कई दिनों तक यह होता रहा। लड़कियाँ कहें कि स्वामी जी क्या करते हैं ये ? कहा कि कुछ नहीं करते हैं। आखिर जब कई दिन हो गए हमको वह पत्थर मिलता ही रहा। तो हम देवकी जी से पूछा कि देवकी जी ! बताओ तुमने देखा ? मैंने पत्थर को तुमसे दिखवाया था क्या ?—नहीं तो। अच्छा, मिल जाता था कि नहीं ?—हाँ

मिल जाता था। तो देखो, प्यार ऐसी चीज है जो पत्थर को भी पसन्द आता है, तो परमात्मा को पसन्द नहीं आयेगा? (हास्य)।

तो भाई, होने वाले चिन्तन को आप मिटा नहीं सकते। और इसमें आप ही के जीवन का अनुभव है कि कितना काल बीत गया आपको चिन्तन करते करते। ऐसा-वैसा मानकर आपको थोड़े ही कहता हूँ। आपको वर्षों हो गया जप करते हुए, वर्षों हो गया चिन्तन करते हुए, वर्षों हो गया पोथी पढ़ते हुए, वर्षों हो गया अभ्यास करते—नहीं हो गया क्या? फिर भी आपको वही शिकायत है। नहीं तो आपकी शिकायत नहीं होनी चाहिए थी।

श्रोता :—महाराज! इस अनर्थ का हेतु संस्कार है?

स्वामीजी :—संस्कार अनर्थ का हेतु नहीं है। अनर्थ का हेतु वह कर्म है जिससे संस्कार बना है। लेकिन आप मनोविज्ञान से अपरिचित से मालूम होते हो। द्वेष का चिन्तन करते-करते, संसार की निन्दा करते-करते निन्दनीय स्वभाव बन गया है हमारा। कोई चीज अनर्थ का हेतु नहीं है। हमारी भूल अनर्थ का हेतु है। और भूल यही है कि हम संस्कार का समर्थन न करें। बस, खतम। हम परमात्मा को पसन्द करें। हम बुराई न करें, हम भलाई का अभिमान न रखें। ठीक।

देखिए, आप जो कहते हैं, वह तो बहुत बड़ी ऊँची बात कहते हैं और परम्परा की बात कहते हैं। किन्तु सारे शास्त्रों का ज्ञान नहीं है आपको। माफ कीजिए, बुरा मत मानियेगा। शास्त्रों में पूर्व पक्ष भी होता है और उत्तर पक्ष भी होता है।

एक पुरानी कहावत है कि महाभारत की कथा हुई। किसी ने अपनी पत्नी से पूछा कि तुमने क्या समझा ? पत्नी ने कहा कि मैंने यह समझा कि द्रोपदी ने पाँच पति किए थे, मैं भी करूँगी। उन्होंने भाई से पूछा कि तुमने क्या समझा ? उसने कहा कि दुर्योधन ने कहा था कि सुई की नोंक के बराबर भी नहीं दूँगा, इसलिए मैं भी तुम्हें हिस्सा नहीं दूँगा। तो भैया, शास्त्र पढ़ने के लिए गुरु चाहिये। और गुरु उसे कहते हैं जिसका अज्ञान निवृत्त हो गया हो। नहीं तो ये प्रेस वाले सभी शास्त्रों की पुनरावृत्ति करते रहते हैं। शास्त्रों को समझना कोई मजाक है क्या ? अरे, तुम अपनी बात को तो समझ नहीं पाते, शास्त्र की बात समझलोगे ? इसलिए उसकी बात नहीं करता हूँ। मैं तो शास्त्रों को हाथ जोड़ता हूँ, वैसे ही।

आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ, शास्त्रों के आधार पर अकारण ही हम लोग एकाध बात कर डालते हैं और डरने लगते हैं। सो डरो मत ! धीरज रखो। सन्तों का ज्ञान, आपका ज्ञान, वेदों का ज्ञान—इनमें एकता है। ऐसी घटना सुनादूँ आपको।

एक दफा, मैं गंगा किनारे बैठा था। अच्युत मुनि महाराज वेदान्त के अद्वितीय पण्डित माने जाते थे। लाहौर कालिज में प्रोफेसर थे। पं॰ जगतराम नाम था, फिर अच्युत मुनि हुए। वे मुझ से अपने आप कहने लगे—"शरणानन्द !" मैंने कहा—'हाँ महाराज !" बोले, "तू जानता है अज्ञान क्या है ?" मैंने कहा—"मुझे क्या मालूम अज्ञान क्या है और शरणानन्द को ज्ञान-अज्ञान से क्या मतलब ? जो बेमालिक का हो, जिसका कोई आधार न हो वह सोचे।" बोले, "देख भैया, सबसे बड़ा अज्ञान यह है कि लोग समझते हैं कि वेदव्यास में ज्यादा ज्ञान था और मुझ में कम है।"

श्रोता :—बात यह आई कि जो 'हो रहा है' वह 'क्रिया' से नहीं मिटेगा। करके मिटाना चाहते हो—यह भ्रम है ?

स्वामीजी :—हमारे जानते सम्भव नहीं है।

श्रोता :—आपके अनुभव में न आवे, यह बात दूसरी है। आपको न जचे, यह दूसरी बात है।

स्वामीजी :—किसी का मिट जाय तो मुझे क्या ऐतराज है बाबा ? मैंने कभी यह थोड़े ही कहा है कि सारी दुनिया इसको मानले। मैं तो बड़ी ईमानदारी से कह रहा हूँ कि यह भ्रम है और नहीं मिटा है। और इसका अनुभव लोगों का जीवन भी है जो मुझसे सवाल करते हैं। अब यही क्रिया की जो बात है, इसका मैं दूसरा अर्थ लेता हूँ। धर्म का मतलब यह है कि जो नहीं करना चाहिए उसको छोड़दो, तो जो करना चाहिए, वह होने लगेगा, वह होने में आजावेगा।

श्रोता :—फिर करना तो हो गया महाराज ?

स्वामीजी :—अब आप जबरदस्ती क्यों करते हो महाराज ? जबरदस्ती मत करो, वही मानो। सब लोग वही मानलें, मुझे कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन आप मेरी बात पूरी सुन लेने दीजिए, और आप भी सुन लीजिए। कि '<u>न करने वाली बात</u>' <u>छोड़ देने से 'करने वाली बात' अपने आप होती</u> है—ऐसा मैं मानता हूँ। जैसे, अगर कोई झूठ बोलना छोड़ दे, तो सत्य बोलने के लिए उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ेगा, अपने आप सच बोलने लगेगा। जैसे कोई बेईमानी करना छोड़ दे तो ईमानदारी के लिए उसे प्रयास नहीं करना पड़ेगा। ऐसे ही कोई संसार का चिन्तन छोड़ दे—मैं नहीं करूँगा—और

अपने आप सामने आये तो उसका समर्थन न करे। यही उसका छोड़ना है। मैंने तीन बातें बताई न !—उसका समर्थन न करे, उससे मिलाये नहीं, और लड़े नहीं। क्योंकि लड़ने से उसकी सत्ता बन जाती है, न लड़ने से वह अपने आप मिट जाता है।

श्रोता :—महाराज जी, आप जो यह बात बोलते हैं न ! इस बात की आवृत्ति मुझे बहुत बार सुनने को मिलती है। लेकिन दूसरे जो कर रहे हैं, उस पर भी तो विचार करना चाहिए। आप उसे भ्रम क्यों कहते हैं ?

स्वामीजी :—हमको भ्रम लगता है, इसलिए भ्रम कहते हैं। कोई पाप नहीं करते। हम झूठ नहीं बोलते, हम धोखा नहीं देते। अब मैं कहता हूँ कि लोग आपकी बात मानलें, मैं अपनी बात वापस कर लेता हूँ।

श्रोता :—अपने अनुभव की बात मैं आपके सामने रख दूँ।

स्वामीजी :—मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आपका अनुभव आपके लिए सत्य है, मेरा अनुभव मेरे लिए सत्य है। आपको अनुभव को लोग मानलें, मेरी बात को न मानें। मुझे कोई ऐतराज नहीं, मुझे कोई आपत्ति नहीं।

श्रोता :—नहीं मानने का तो प्रश्न ही नहीं कहूँ मैं, लेकिन भ्रम·······

स्वामीजी :—देखिये महाराज ! मुझे तो भ्रम लग रहा है, इसलिए भ्रम कहता हूँ।

श्रोता :—जैसे एक आदमी को बुरे संकल्प हो रहे हैं, तो बुरे संकल्प को मिटाने·······?

स्वामीजी :—महाराज ! किसको समझा रहे हैं ? मुझको कि इनको ?

श्रोता :—नामरूप का वह चिन्तन करे, तो बुरे संकल्प मिटेंगे। उससे वह बुरे संकल्प अपने आप मिटेंगे महाराज जी।

स्वामीजी :—महाराज ! किसे समझाते हो ? मुझे कि इन लोगों को आप तो समझे हुए हैं ही, मैं मानने वाला हूँ नहीं। (हास्य) मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि मैं कहाँ मना करता हूं ? बिना बजह मुझे क्यों लांछन लगाते हो ? मैंने किसको मना किया है कि नामरूप का चिन्तन करना छोड़दो, मैंने तो किसी को मना किया नहीं। श्रद्धेय गोइन्काजी कहते थे कि शरणानन्द का और हमारा १४ आने सिद्धान्त मिलता है, दो आने नहीं मिलता है।' मैंने पूछा—कौनसा नहीं मिलता है ? 'वह भजन ध्यान की बात नहीं करता है।' तो मैंने कहा कि क्या मैं विरोध करता हूं ? 'विरोध तो नहीं करता।' मैं कहता हूँ कि सबका (व्यर्थ चिन्तन) मिट जाय तो मेरा कोई नुकसान नहीं है। पर मेरे तो कान पक गए सुनते-सुनते। क्या आप जानते हैं ?—समझ में आती है बात, ठीक मालूम होती है, पर जीवन में नहीं उतरी। चालीस-चालीस वर्ष के सत्संगी यह कहते हैं। तो मुझे जनता जनार्दन की सेवा करना है, ईमानदारी से करना है, और मेरा विरोध है ही नहीं। मैं कोई भगवत्-चिन्तन का विरोधी हूँ ? मैं तो भगवत्-चिन्तन का विरोधी नहीं हूँ। मैं न ध्यान का विरोधी न चिन्तन का विरोधी। लेकिन 'होने वाला चिन्तन', 'करने वाले चिन्तन' से मिटता होगा—मेरा ऐसा विश्वास नहीं है। किसी का मिट जाये, तो मुझे ऐतराज भी नहीं है ! मुझे काहे

का ऐतराज होगा भैया ? भगवान् करे, सबका मिट जायँ। बड़ी सुन्दर बात। मैं तो प्रार्थना करता हूँ, उसमें भी यही कहता हूँ कि विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें। सबका भला चाहता हूँ मैं किसी का बुरा चाहता हूँ क्या ? मैं किसी सिद्धान्त का विरोध करता हूँ क्या ? आग्रह रखता हूँ क्या ? पर मुझसे जो बात पूछो, तो मैं यह जानता हूँ और आपको न जचे तो मत मानो। बिल्कुल मत मनो। सभी बातें तो कोई किसी की मानता भी नहीं है। और सभी की मानी होती तो आज सुनने की जरूरत ही क्या रहती ? इतने दिन होगये सुनते-सुनते अगर मानली गई होती बात तो सुनने की जरूरत ही नहीं रहती।

मेरा नम्र निवेदन इतना ही है, मेरा अनुभव यही है कि 'होने वाला चिन्तन', 'होने वाले चिन्तन' से मिटेगा। वह 'होने वाला चिन्तन' जो होगा, वह 'स्मृति' के रूप में होगा 'प्रियता' के रूप में होगा। और स्मृति जो होगी, वह 'स्व' में उदय होगी। उसके लिए शरीर की आवश्यकता नहीं होगी, करण की अपेक्षा नहीं होगी। अगर यह बात नहीं जची है, तो न मानो जाय। मैं तो आग्रह नहीं करता हूँ। मैं तो कहता हूँ कि आपकी बातों से लोगों का कल्याण हो जाय। सुन्दर बात। मुझे कल्याण अभीष्ट है। मुझे कोई अपना मत तो अभीष्ट है नहीं।

श्रोता :—महाराज ! मेरा तो इतना ही निवेदन था ……?

स्वामीजी :—आपका जो निवेदन था वह मेरी समझ में आया नहीं, आयेगा भी नहीं। क्योंकि मैंने बीसियों दफा देख लिया है। आप कहते हैं, आपमें केवल इतना ही नहीं है, आपमें

बहुत ताकत है । आपको शान्ति दूसरे ढंग से मिल गई है, इस लिए आपको मालूम है । और यह तो लोगों को जरा कठिन लगता है कि मैं भगवत्-चिन्तन का विरोध करता हूँ—कठिन लगता है सुनने में—मैं भगवत्-स्मृति जगाने का प्रयास करता हूँ, आप चिन्तन करने की बात कहते हैं, इतना ही तो फर्क है । मैं कहता हूँ कि भगवत्-स्मृति जाग्रत होजाय, आपका भला हो जाय जल्दी । अल्प आयु हैं, अल्प सामर्थ्य है, न जाने कब क्या हो जाय ! मेरा तो मत है यह । और जिनको दीर्घ काल का भरोसा है, जन्म जन्मान्तर का भरोसा है, वे वैसा करें ।

श्रोता :—महाराज ! यह स्मृति हमेशा बनी रहेगी ?

स्वामीजी :—अरे, स्मृति हमेशा निरन्तर रहती है । उस स्मृति को स्मृति कहते ही नहीं जो मिट जाय । देखो, 'अभ्यास' मिटता है, होने वाली बात मिटती नहीं है । स्मृति का ही अर्थ बोध है । स्मृति का ही अर्थ प्रेम है । स्मृति का की अर्थ योग है । और आप देखेंगे भी । साधकों ने, बहुतों ने कहा कि 'मुझे स्मृति प्राप्त हो गई ।' 'मुझे परम विश्राम मिल गया ।' यह एक ने नहीं, अनेकों ने कहा है । तो आप तो सीखने वाली बात के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि बनी रहेगी कि नहीं बनो रहेगी ? सो तो नहीं बनो रहेगी लेकिन 'होनेवाली' बात तो बनी रहेगी । क्योंकि स्मृति होती है । आत्मीय सम्बन्ध से स्मृति होती है । निष्कामता से शान्ति मिलती है । निर्ममता से निर्विकारता आती है ।

३०

'अव्यक्त' जो होता है, यह हमेशा 'व्यक्त' की अपेक्षा सूक्ष्म और विभु होता है।

स्थूल जो पदार्थ होता है, वह देखने में कितना ही बड़ा मालूम हो, वह सूक्ष्म-तत्त्व के किसी एक अंश में रहता है।

अधिकार-लालसा ने ही भोगत्व-भाव को जन्म दिया।

जब तक प्रत्येक प्रवृत्ति में सेवा का रस नहीं आता, तब तक प्रवृत्ति अपने सुख के लिए होती है। जब प्रवृत्ति दूसरों के हित में होने लगती है, तब उसमें सेवा का भाव आता है।

'प्रियतम' किसमें छिपा हुआ है ?—प्रीति में।
प्रीति में छिपा हुआ प्रीतम जब प्रकट होता है, तब प्रीति 'सेवा' का रूप धारण करती है और सेवा होकर 'सेव्य, को रस देती है।

(अ) जो लेता है और देता है वह है 'असाधक'।
(ब) जो लेना छोड़ता है और देने को तत्पर है वह है 'साधक'।
(स) जो केवल लेता है वह है 'जड़'।
(य) और जो लेता नहीं है, केवल देता है वह है 'प्रभु'।
(र) जो लेता-देता है उसी को 'जड़-चिद्-ग्रन्थी' कहते हैं।

३०

अ

प्रवचन :

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

मानव-जीवन साधन युक्त जीवन है। यह बात इस साधन-पक्ष के उद्घाटन करते हुये आदरणीय सहाय जी ने बताई। और उसी का अनुवाद करते-करते आज का दिन आ गया।

एक बात प्रत्येक भाई और बहिन को समझना है और वह बात यह है कि क्या कोई ऐसा प्राणी है जिसे रस की माँग न हो ? रस की माँग हम सभी को है। इस मूल समस्या पर विचार करने के लिये यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि रस का उद्गम-स्थान क्या है ? और रस का स्वरूप क्या है ? रस उस समय तक नहीं प्रतीत होता, जिस समय तक रस की माँग न हो। रस की माँग ही रस का उद्गम-स्थान है। आप कहेंगे कि भाई, रस की माँग तो स्वाभाविक है। किन्तु विचार तो यह करना है कि आप रस-दाता हैं या रस-भोगी ? रस के भोग में भी रस है और रस के देने में भी रस है। तो जो रस का भोगी होता है, वह रस के दाता के सदैव अधीन रहता है। और जो रस का दाता होता है, वह सदैव स्वाधीन रहता है।

आप कहेंगे कि जीवन में तो ऐसा देखने में आता है कि दोनों ही परस्पर में भोगी होते हैं और दोनों ही परस्पर में दाता होते हैं। जैसे, दो जब एक दूसरे को रस देने लगते हैं, तो दोनों ही कभी-कभी यह मान लेते हैं कि मानों हम रस के भोगी भी हैं और रस के दाता भी हैं। परन्तु वास्तव में जब तक यह द्वन्द्वात्मक स्थिति रहती है कि हम रस के भोगी भी हैं और रस के दाता भी हैं, तब तक जो रस मिलता है उस रस का नाम ही भोग का रस है। भोग का जो रस होता है उसमें जिससे रस प्रतीत होता है उसका विनाश, और जिसको रस प्रतीत होता है; जो रस का भोक्ता होता है उसमें, रस भोगने की शक्ति का ह्रास बना ही रहता है।

आप विचार कीजिये—किसी भाई को अथवा बहन को खूब ही तीव्र भूख लगी हो, और एक दूसरा भाई बड़ा ही सुन्दर, अनुकूल, रुचिकर भोजन लेकर आ जाय। तो जिस समय भूख और भोजन का सम्पर्क होता है अथवा थाली सामने आती है, उस समय जो रस होता है, वह भोजन के आरम्भ-काल में नहीं रहता। उस समय बड़े ही निर्विकार रूप से भोजन-रस की माँग है। और जहाँ भोजन आपने आरम्भ कर दिया, तब दो बातों पर दृष्टि गई—एक तो भोग्य-वस्तु पर, और उस भोग को देने वाले व्यक्ति पर। कुछ लोग कहने लगते हैं कि 'देखिये, बड़ा ही सुन्दर भोजन बनाया है और यह बड़ा ही सुन्दर भोजन है!' बनाने वाले पर भी दृष्टि जाती है और उस वस्तु पर भी दृष्टि जाती है। और उस समय दोनों ही में सुन्दरता दिखाई देती है।

किन्तु धीरे-धीरे वह रस घटने लगता है, उसकी क्षति

होने लगती है। और उसके साथ-साथ रस-भोगने की जो सामर्थ्य थी उसका भी ह्रास होने लगता है। और एक वह स्थिति आ जाती है कि वही भोजन है, वही भोजन देने वाला है, लेकिन अब उसमें रस का भास नहीं। यदि उस समय कोई विशेष आग्रह करे, तो जो यह मालूम होता था आरम्भ-काल में कि यह बड़ा ही हमारा अपना प्यारा है, इसने हमको बड़ा ही सुन्दर भोजन दिया है। यदि विशेष आग्रह करे महाराज ! तो शत्रु जैसा लगने लगता है। इतना ही नहीं, वह कहे कि नहीं ! नहीं !! तुमको भोजन करना ही पड़ेगा और यदि आप भोजन कर लेंगे, तो हम समस्त-विश्व की सम्पत्ति आपको देना चाहते हैं। तब भी आप कहेंगे कि 'क्या करें ! अब शक्ति का ह्रास हो गया, अब हम किसी भी प्रकार भोजन कर नहीं सकते। उन्होंने कहा कि देखो, अगर तुम विश्व की सम्पत्ति लेकर भी भोजन नहीं करते हो तो तुमको अभी गोली से मार दिया जायेगा।—'कि भाई देखो, हमारे बस की बात नहीं है। चाहे आप गोली से मारो और चाहे समस्त विश्व की सम्पत्ति दो, अब हम एक ग्रास भी भोजन नहीं कर सकते।' क्यों ? 'भोगने की शक्ति का ह्रास हो गया।'

तात्पर्य क्या निकला ? कि रस का भोगी और भोग्य-वस्तु इन दोनों के सम्पर्क से जो रस मिलता है, वह रस नित्य नहीं है। उसी को लोगों ने अपनी शास्त्रीय भाषा में कह दिया कि 'अनित्य है अनित्य'। यानी भोगों का रस जो है वह अनित्य है।

उस पर भी कहीं वस्तु का विनाश हो जाय और व्यक्ति का वियोग हो जाय, तब तो सभी को इस बात का स्पष्ट ज्ञान

हो जाता है कि भाई ! भोग के रस में शोक है, रोग है, अभाव है ।

देखिये, आज जो आप लोग यह प्रश्न करते रहते हैं, कि हमारा विषयों से मन हटता नहीं, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या सचमुच विषयों में रस नहीं है ? यदि विषयों में रस का भास न होता, तो मन कभी लगता ही नहीं । लेकिन यदि उस रस में स्थिरता होती, तब मन हटाने का प्रश्न ही नहीं आता । तो यह जो मन के हटाने का प्रश्न आता है जीवन में कि विषयों से मन हटना चाहिये अथवा मन में-से विषय निकल जाना चाहिये—दोनों में थोड़ा-सा भेद तो है। किसी के मन में विषय रहते हैं और किसी का मन विषय में रहता है । तो मन में विषय रहते हों, तो निकल जायँ; और विषयों में मन लगा हो, तो हट जाय ।

तो भाई ! यह जो हटाने की बात आती है, वह क्यों आती है ? रस की क्षति, रस का विनाश और रस-भोगने की शक्ति का ह्रास—यह किसी को भी अभीष्ट नहीं है । इसलिए यह प्रश्न पैदा होता है कि यदि मन में विषय-रस है, तो निकल जाय । और यदि विषय में मन लगा है, तो हट जाय । वास्तव में क्या है ? यह तो बड़ी विचारणीय बात है । कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि जो लोग इन्द्रिय-ज्ञान को अथवा इन्द्रिय के व्यापार को मन के किसी एक अंश में मानते हैं, वे दर्शनकार तो यह कहते हैं कि मन में विषय-रस भर गया, निकाल दो । और जो लोग स्थूल-दृष्टि से इन्द्रिय-व्यापार को मन के किसी एक अंश में नहीं मानते, अपितु मन को इन्द्रिय के अधीन मानते हैं, वे कहते हैं कि भाई ! विषय में मन लग गया, हटालो । यह एक दार्शनिक-दृष्टिकोण से भेद है ।

आप कहेंगे कि आपका अपना मत क्या है ? जरा विचार करो। और विचार इस बात को लेकर करो कि भाई, अपना तो कोई स्वतन्त्र ऐसा मत नहीं है जो आपका मत न हो। और भगवान् न करे कि कोई किसी के मत का अनुसरण करे। यह बड़ी बुरी बात है। अपने मत के अनुसरण में ही अपना कल्याण है।

तो अगर हम आपसे ही पूछें कि भाई, जिस नेत्र से तुम इतनी बड़ी सृष्टि की आकृति देखते हो। सारी सृष्टि तो नेत्र से नहीं देखते न ! उसकी केवल आकृति देखते हो। और नेत्र आपको बहुत छोटा-सा मालूम होता है और सृष्टि बहुत बड़ी-सी मालूम होती है। लेकिन किसी विज्ञान-वेत्ता से पूछो कि जो चीज देखने में बड़ी मालूम होती हो और जिससे देखी जाती है वह छोटी मालूम होती हो, तो वह छोटी चीज सूक्ष्म है या स्थूल है ? तो वह तुरन्त कह देगा कि वह सूक्ष्म है। और जो देखने में आती है वह ? कि वह स्थूल है। तो नियम यह है कि सूक्ष्म वस्तु मालूम होता है कि बहुत छोटी है, लेकिन स्थूल की अपेक्षा विभु होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त इन्द्रियों के विषय इन्द्रियों के किसी एक अंश में हैं। जब समस्त इन्द्रियों के विषय इन्द्रियों के किसी एक अंश में हैं, तो यह मानना ही पड़ेगा कि इन्द्रियाँ विषयों की अपेक्षा विभु हैं। और विषय इन्द्रियों की अपेक्षा सीमित हैं।

यहाँ एक और ध्यान देने की बात है। और वह यह है कि जो लोग 'अव्यक्त' से 'व्यक्त' की उत्पत्ति स्वीकार कर लेते हैं, उनकी समझ में तो यह बात एक दम आयेगी। क्यों समझ में आजायेगी ? कि 'अव्यक्त' जो होता है, वह हमेशा

'व्यक्त' की अपेक्षा सूक्ष्म होता है, विभु होता है। एक बात। दूसरी बात, और जरा ध्यान दीजिये कि जो लोग 'अव्यक्त' का कार्य 'व्यक्त' मानते हैं, वे भी इस बात को मान लेंगे। क्यों मनालेंगे ? इसलिए मानालेंगे कि 'कार्य' जो होता है, उसमें "कारण" की अपेक्षा गुणों की तो विशेषता होती है, परन्तु सत्ता की पराधीनता होती है। कोई भी 'कार्य' ऐसा नही होता, जिसमें 'कारण' की सत्ता न हो। लेकिन कोई भी 'कार्य, ऐसा भी नहीं होता, जो 'कारण' की अपेक्षा कुछ विशेष गुण न रखता हो।

इससे क्या सिद्ध हुआ ? इससे यह सिद्ध हुआ कि स्थूल जगत् में जो स्थूलता दिखाई देती है और यह मालूम होती है कि जारा-सी आँख के प्रकाशन ने इतनी बड़ी सृष्टि को देख लिया। सृष्टि बहुत बड़ी है, आँख बहुत छोटी है। यह कार्य के गुण की विशेषता है, सत्ता की नहीं। सत्ता तो रूप में प्रकाश की है। साधारण आदमी सोचते हैं कि प्रकाश इस आँख की गोलक में है। और जैसे-जैसे विज्ञान की ओर अपना प्रवेश होता जाता है वैसे-ही-वैसे कहने लगते हैं कि भाई, प्रकाश तो उस सूर्य का है जरा ध्यान दीजिये, प्रकाश तो उस सूर्य की वस्तु है कि जिस सूर्य के किसी एक अंश में समस्त सृष्टि निवास करती है जिसके आकर्षण से रुकी है।

कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि भाई, स्थूल जो पदार्थ होता है, वह देखने में कितना ही बड़ा मालूम हो, किन्तु सूक्ष्म-तत्त्व के किसी एक अंश में रहता है। इस दृष्टि से समस्त सृष्टि इन्द्रियों के किसी एक अंश में है। और वे समस्त इन्द्रियाँ मन के किसी एक अंश में हैं। और वह मन बुद्धि के किसी

एक अंश में है। और वह बुद्धि, बुद्धि के ज्ञाता के किसी एक अंश में है।

अब आप जरा सोचिये तो सही कि बुद्धि का ज्ञाता कितना महान् होगा ! कितना अनन्त होगा ! और कोई सहज भाव से पूछे—क्या आप अपनी बुद्धि को जानते हैं ? तो हर भाई कहेगा, हर बहन कहेगी कि—"हाँ, अपनी बुद्धि को जानते हैं।" और फिर कोई कहदे—"तुम सारी सृष्टि से बहुत बड़े हो।" बोले—पागल हुये हो क्या ? अरे, हम एक साधारण व्यक्ति और आप हमसे कहते है कि हम सारी सृष्टि से बड़े हैं ?

भाई ! जरा सोचो तो सही, यह जो तुम कहते हो कि हम साधारण—यह क्या मानकर कहते हो ? तब आपको मानना पड़ेगा कि साड़े तीन हाथ का शरीर, जो समस्त विश्व का एक 'नहीं' के समान अंश है महाराज ! आप विचार करें। अगर जैसे लोग गणित से हिसाब लगाते हैं कि भाई, अमुक वस्तु अमुक वस्तु का कौनसा भाग है ? इस सृष्टि से अगर आप हिसाब लगाने बैठें तो सृष्टि का एक बहुत-बहुत छोटा भाग हमारा-आपका शरीर मिलेगा, बहुत छोटा भाग। यानी अगर यह कह दिया जाय कि आज के गणित में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि इसका ठीक निर्णय कर सके कि एक व्यक्ति का शरीर समस्त सृष्टि का कौनसा भाग है ? शायद न कह सके ! न कह सके !!

तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि भाई, एक ओर तो हमें यह मालूम होता है कि हमारा व्यक्तित्व है, वह सृष्टि के किसी एक अंश मात्र में है। और दूसरी ओर हमें यह

मालूम होता है कि समस्त सृष्टि हमारे किसी एक अंश-मात्र में है।

आप जरा ध्यान दीजिए और गम्भीरता से विचार कीजिए कि यह जो दार्शनिक दृष्टिकोण है, इस दार्शनिक दृष्टिकोण से हम और आप रस के भोगी हैं या रस के दाता ? अब मूल प्रश्न पर आइये। आप और हम अपने को रस का भोगी मानते हैं या रस का दाता ? इस सम्बन्ध में मानव सेवा संघ की जो अपनी नीति है, उस नीति के अनुसार तो ऐसा मालूम होता है कि जो व्यक्ति अधिकार-लालसा में फँसा है, वह रस का भोगी हैं। और जो रस का भोगी है वह पराधीन है। और जो पराधीन है, वह जड़ता में आबद्ध है। जो जड़ता के आबद्ध है, उसके जीवन में अनेक प्रकार के अभाव हैं।

तात्पर्य क्या निकला ? तात्पर्य यह निकला कि अब हमें और आपको देखना पड़ेगा, किसको ? किसी और को नहीं, अपने व्यक्तिगत जीवन को। और किस दृष्टि से देखना पड़ेगा? इस दृष्टि से देखना पड़ेगा कि हमारे और आपके जीवन में अधिकार लालसा है या नहीं ? चाहे वह अधिकार पुत्र का पिता से हो या माता से, चाहे माता और पिता का पुत्र से हो। चाहे पत्नी का पति से हो चाहे भाई का भाई से हो। चाहे व्यक्ति होकर समाज से ह, शरीर होकर विश्व से हो, और जीव होकर ईश्वर से हो। इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि हमारे जीवन मे अधिकार-लालसा है, तो हम भोक्ता हैं, भोक्ता !

और आप जानते हैं कि जो भोगी होता है, वह रोगी अवश्य होता है। यह नियम है। कोई कहें कि हम भोगी हैं

और रोगी नहीं हैं। बिल्कुल झूठा। कोई कहे कि हम भोक्ता हैं और भोगने की शक्ति का ह्रास नहीं हुआ। बिल्कुल झूठा। जो भोक्ता होगा, उसकी भोगने की शक्ति का ह्रास होगा।

तो भाई मेरे! विचार अब यह करना है कि क्या हम और आप भोक्ता होकर कर्त्तृत्व के अभिमान से, फल की आसक्ति से रहित हो सकते हैं? नहीं हो सकते। और अगर कर्त्तृत्व के अभिमान से रहित नहीं हो सकते, तो क्या कर्म और कर्म का फल, और कर्म के संस्कारों से मुक्त हो सकते हैं? नहीं हो सकते। इस दृष्टि से आप देखिये कि अधिकार-लालसा ने ही भोगत्व-भाव को जन्म दिया। और यह अधिकार उत्पन्न कहाँ से होता है? महाराज! यह अधिकार उत्पन्न कहाँ से होता है? यह अधिकार उत्पन्न तब होता है, जब प्राणी इस बात को स्वीकार कर लेता है कि हमारे सुख का कारण कोई भी वस्तु, कोई भी व्यक्ति हो सकता है।

यह बात जब तक मानता रहेगा, तब तक वह अधिकार से मुक्त नहीं हो सकता। आप कहेंगे कि यह मानकर भी लोगों ने अपने-अपने व्यक्तिगत अधिकारों का त्याग किया। लेकिन भीतर से अगर आप देखें, तो अधिकार का त्याग कभी-कभी अधिकार पाने के लिए भी होता है। जैसे, सन् १९२१ में हमारे बहुत से साथियों ने सर्विस छोड़ी थीं, पद छोड़े थे, टाइटिल छोड़े थे, वकालतें छोड़ी थीं और कुछ नौजवानों ने अपनी नौजवानी छोड़ी थी। और किसी-किसी ने तो अपने प्राणों का भी त्याग कर दिया महाराज! लेकिन किस लिये? अधिकार पाने के लिये।

तो अधिकार पाने के लिए जो अधिकार का त्याग होता है,

वह त्याग अन्त में भोग में ही बदल जाता है। और जो त्याग भोग मे बदल जाता है, वह सेवा 'स्वार्थ' में परिणत जो जाती है। और जो सेवा स्वार्थ में परिणत हो जाती है, उस सेवा के आधार पर भेदों की उत्पत्ति हो जाती है। अनेक भेद उत्पन्न हो जाते हैं। और वे जो अनेक भेद है, वे परस्पर में संघर्ष उत्पन्न कर देते हैं।

एक वह समय था विभिन्न विचार के लोग अपने-अपने अधिकार पाने के लिए एक थे एक। और अधिकार पाते ही कितनी पार्टी बनीं आपके देश में ! जरा ध्यान दीजिये। क्या है यह ? यह मेरा कोई विषय नहीं है, उदाहरण है। और इस बात के लिए उदाहरण है कि अधिकार पाने के लिये जो अधिकार का त्याग है, वह दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं है। क्यों ? दर्शन किसे कहते हैं भाई ? दर्शन कहते हैं उस सत्य को कि जो बदल न सके। और जो सत्य बदलता है, उसका नाम दर्शन नहीं है। तो अधिकार पाने के लिए जो अधिकार का त्याग है, वह वास्तव में अधिकार का त्याग नहीं है।

इसी बात को अगर आप जरा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखिये, जरा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सोचिए, तो जिन प्राणियों ने सद्‌गति के लिये साधन किया—जरा ध्यान दीजिये—बड़े-बड़े तप किये, बड़े-बड़े त्याग किये, बड़े-बड़े अध्ययन किये। बोले, किसलिये करते हो ? बोले, 'जन्म-मरण छूट जाय।' यह अधिकार हो गया न ! जन्म-मरण छुटाने का एक अधिकार ? तो जिन्होंने अधिकार पाने के लिए प्रभु की उपासना की, सत्य का विचार किया, वे ज्ञानी होकर पुजने लगे। जरा ध्यान दीजिये, वे ज्ञानी होकर पुजने लगे। कोई योगी होकर पुजने लगे।

तात्पर्य क्या निकला ? वहाँ भी भेद का नाश नहीं हुआ। क्यों नहीं नाश हुआ ? कि अधिकार पाने के लिए अधिकार का त्याग किया। बोले, वासना का त्याग क्यों करने गये ? बोले, 'चिर-शान्ति के लिये।' तो चिर-शान्ति का भोग करोगे ? अगर चिर-शान्ति का भोग करोगे, तो अधिकार पाना हो गया। और जब तक अधिकार पाने का प्रलोभन है, तब तक भाई मेरे ! योगी भी भोगी, ज्ञानी भी भोगी, प्रेमी भी भोगी और भोगी भी भोगी। यही नियम है।

इसलिए भाई ! जब हम और आप रस के सम्बन्ध में विचार करने लगते हैं, तो हमको यही मालूम होता है कि जो भोगी है उसको वह रस नहीं मिल सकता, कि जिस रस की उसको माँग है।

तो अब हमारे और आपके जीवन में-से भोगी होने की भावना का नाश कैसे हो ? उसका सीधा-सादा उपाय है कि अगर आप अपने को शरीर मानते हैं—कल्पना करो थोड़ी देर के लिए, जानता तो कोई नहीं। जानता कोई नहीं कि "मैं शरीर हूँ"। सब जानते हैं कि शरीर मेरा है अथवा मुझसे अलग है। यह हर एक भाई जानता है, हर एक बहन जानती है। लेकिन अपने को शरीर मानकर यदि आप विश्व में अपना कोई अधिकार रखते हैं, तो आपको वह रस नहीं मिलेगा जो मिलना चाहिए। और यदि अपने को शरीर मान कर विश्व के अधिकार में अपने शरीर की आहुति दे देते हैं—जरा ध्यान दीजिये—अपने को शरीर मानकर विश्व के अधिकार में अपनी आहुति दे देते है, तब आप भोक्ता नहीं रहते। ऐसे ही अपने को व्यक्ति मानकर समाज के अधिकार

में अपनी आहुति दे देते हैं, अब आप भोगी नहीं रहते। ऐसे ही अपने जीव को मानकर ईश्वर के अधिकार में अपनी आहुति दे देते हैं, तब आप भोगी नहीं रहते। यह है रस की दार्शनिक भित्ति।

क्या ? कि भाई आप अपने को चाहे कुछ मानें और चाहे कुछ जानें ! जानके अथवा मानके, देखना तो यह है कि आपके द्वारा आपके प्रिय की—जैसे, शरीर होकर प्रत्येक भाई का प्रिय विश्व हो सकता है—जरा ध्यान दीजिये—शरीर होकर प्रत्येक भाई का प्रिय विश्व हो सकता है, तो शरीर बन कर अपने विश्व रूपी प्रेमास्पद के अधिकार की रक्षा में अपने आपको गला हो सकता हो ? व्यक्ति होकर समाज रूप में जो आपका प्रेमास्पद है, उसके अधिकार की रक्षा में अपने व्यक्तित्व को गला सकते हो ? और भाई ! जीव होकर प्रभु के अधिकार में अपने जीवत्व को गला सकते हो ? तो निस्संदेह आप रस के दाता हो जाते हो।

और रस का दाता जो होता है, वह रस का भोक्ता नहीं होता। और जो रस का भोक्ता नहीं होता, उसमें न तो भोगने की शक्ति का ह्रास होता है और न उसकी योग्य-वस्तु का कभी विनाश होता है। क्योंकि रस जो है वही एक ऐसी भोग्य वस्तु है कि जिसका कभी नाश नहीं होता। वस्तु का जो भोक्ता है वह भोक्ता भी नाश होता है और वह भोग्य वस्तु भी नाश होती है।

लेकिन, सेवा के रूप में' प्रीति के रूप में, त्याग के रूप में, क्षमाशीलता के रूप में उदारता के रूप में, जो रस का दाता

है—जरा ध्यान दीजिए—क्षमाशीलता से भी दूसरों को रस मिलता है। उदारता से भी दूसरों को रस मिलता है। अक्रोध से भी दूसरों को रस मिलता है। प्रियता से भी दूसरों को रस मिलता है। सेवा से भी दूसरों को रस मिलता है। इस प्रकार का जो रस का दाता है, उस रस-दाता का कभी नाश नहीं होता। और जिस रस दाता का कभी नाश नहीं होता, उस रस के भोगी का भी कभी नाश नहीं होता। क्यों नाश नहीं होता? जरा सोचिये, 'सेवा और सेव्य', 'प्रीति और प्रीतम', इन दोनों में जातीय भिन्नता नहीं रहती।



३०

ब

सेवा किसी और जाति की हो और सेव्य किसी और जाति का हो, प्रीति किसी और जाति की हो और प्रीतम किसी और जाति का हो—यह कभी हो ही नहीं सकता। जब यह नहीं हो सकता, तब यह जो स्थूल आपका जो जीवन है, वह जीवन क्या हो सकता है? वह जोवन केवल एक साधन का क्षेत्र रह जाता। कैसे?

विचार कीजिए, जब आप अपने को सेवक मान लेते हैं, तो आपकी प्रत्येक प्रवृत्ति में सेवा का रंग आ जाता है, सेवा का प्रभाव आ जाता है। जब सेवा का प्रभाव आ जाता है, तो प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरों के हित में होने लगती है, अपने सुख में नहीं। और जब तक हमारी प्रवृतियों में सेवा का रस नहीं आता, तब तक प्रत्येक प्रवृत्ति अपने सुख में होतो है। और जहाँ अपने सुख में प्रवृत्ति हुई, वहाँ रस-दाता का पद नाश हुआ और रस के भोक्ता हो गये। और जो भोक्ता होगा उसकी शक्ति का तो ह्रास होगा ही, उसमें तो पराधीनता आयेगी ही, उसमें तो जड़ता रहेगी ही।

इसलिए भाई! आपका जो व्यक्तित्व है, आपका जो अस्तित्व है, वह क्या है? सेवा है, प्रीति है। सेवा किस काल में? प्रवृत्ति काल में। प्रीति किस काल में? निवृत्ति काल में।

अब आप कहेंगे कि भाई ! सेव्य और प्रीतम—क्या—इनमें भी कोई भेद है ! भाई, इसमें कोई भेद नहीं है। एक बड़ा भारी भेद यह है कि जब हमारा प्रीतम सेव्य होता है, तब वह व्यक्त होजाता है, प्रकट होजाता है, उसका प्रादुर्भाव होजाता है। वही प्रीतम जब सेव्य होगा तब व्यक्त रूप में होगा, प्रकटरूप में होगा। जिसको किसी ने जगत् के नाम से कहा, किसी ने माया-मात्र के नाम से कहा, किसी ने प्रतीति मात्र कहा और किसी ने लीला शब्द से उसका वर्णन किया।

तो भई, हमारा सेव्य क्या है ? वही प्रीतम जो कि छिपा हुआ है। किसमें ? जरा ध्यान दीजिये, प्रीतम किसमें छिपा हुआ है ? प्रीति में। बाहर नहीं, प्रीतम प्रीति में छिपा है। तो प्रीति में छिपा हुआ प्रीतम जब प्रकट होता है, तब प्रीति सेवा का रूप धारण करती है, और सेवा होकर सेव्य को रस देती है। और जब प्रीतम अपने प्रकटरूप को अपने में विलीन करता है, तब सेवा प्रीति होती है। और प्रीति होकर प्रीतम को रस देती है।

अब भाई, सच बात तो यह है कि जब प्रीति होकर प्रीतम को रस देती है सेवा, तब प्रीतम जो है उस प्रीति का भोगी होता है। जैसे सेव्य सेवा का भोगी है, ऐसे ही प्रीतम प्रीति का भोगी है। जब प्रीतम प्रीति का भोगी होता है, तब यह पता चलना बड़ा कठिन होजाता है कि कौन प्रीति है और कौन प्रीतम ! तो जहाँ प्रीति और प्रीतम के भेद का पता नहीं चलता, वहीं लोग चुप होते हैं। और चुप होकर वह रस कि जिसमें कभी क्षति नहीं, और वह रस का भोक्ता कि जिसमें शक्ति का कभी ह्रास नहीं। तो दशा क्या होती है ?

कल्पना करो—किसी को ऐसी प्यास लगी हो, जो कभी बुझे नहीं, और ऐसा जल मिल जाय जो कभी घटे नहीं और ऐसा पेट हो जाए जो कभी भरे नहीं तब आप क्या कहेंगे ? तब आपको कहना पड़ेगा कि प्रत्येक घूँट पर एक नया रस है। क्या नया रस है ? कि प्यास बुझती नहीं, पेट भरता नहीं जल घटता नहीं। यही वास्तव में अगाध रस है, अनन्त रस है, नित्य रस है। और वह रस मानव-मात्र को प्राप्त हो सकता है। कब हो सकता है ?

इसी बात को यदि हम लोग अपनी बोल-चाल की सीधी-साधी भाषा में कहें, तो कहेंगे भैया, अपने अधिकार का त्याग करो। बोले, इससे क्या होगा ? कि इससे होगा यह कि साधक की सूची में आपका नाम लिख जायेगा। बोले, हम तो यह नहीं कर सकते। अगर आप यह नहीं कर सकते, तो सरकार ! साधक तो नहीं हो सकते, चाहे आप ब्रह्म भले ही हो जायँ, हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं। इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं कि आप ब्रह्म नहीं हैं। सचमुच आप ब्रह्म हैं, पर साधक नहीं हो सकते। और मानव सेवा संघ का जो दृष्टिकोण है, वह साधन द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का है।

आप कहेंगे—ऐसा क्यों ? भाई देखो, ब्रह्म में तो साधन का प्रश्न हो नहीं सकता, जगत् में साधन का प्रश्न हो नहीं सकता। जरा सोचिये, जगत् में कोई साधन का प्रश्न होता है ? ब्रह्म में कोई साधन का प्रश्न होता है ? साधन का प्रश्न साधक में होता है। और साधक होता है मानव। जरा ध्यान दीजिए, साधक होता है मानव, कोई और साधक बनने नहीं आता।

तो हम और आप मानव सेवा संघ के दृष्टिकोण से जब देखते हैं तो हम सबको साधक होना है। और साधक होने के लिए, सबसे पहली बात हमें और आपको स्वीकार ही करनी पड़ेगी। और वह यह बात है कि भाई, हमें किसी से कुछ लेना नहीं है। क्यों? लेने के लिए यदि हमारा जीवन होता, तो मानव जीवन नहीं होता महाराज ! तो क्या होता ?

पशु जीवन होता। क्योंकि पशु जीवन में लेने की बात है। आप कहते है कि पशुओं से तो लाभ होता है, वृक्षों से तो बहुत लाभ होता है। तो वृक्षों से जो बहुत लाभ होता है, वह तो लाभ लेने वाला ले लेता है, वह बेचारा देता थोड़े ही है। वह थोड़े ही कहता है कि हम इसलिये उगे हैं कि हम तुमको छाया देंगे, कि हम तुमको फल देंगे, कि सूखने पर लकड़ी देंगे। ऐसा बेचारा अगर वृक्ष कहता है, तब तो यह मानना चाहिये कि वह सृष्टि नहीं है, वह वृक्ष नहीं है, वह तो प्रभु हैं। क्योंकि जो नहीं लेता और देता है, वह प्रभु का स्वभाव। जरा ध्यान दीजिए, जो देता है और लेता नहीं वह प्रभु का स्वभाव। और जो देता है और लेता है ये दोनों बातें हैं—यह असाधक का स्वभाव। ओर जो देने के लिए तत्पर है और लेना छोड़ता है—यह साधक का स्वभाव। और जो केवल लेता है—यह जड़ता।

जड़ता और कुछ नहीं है। चाहे वह जड़ता आप वृक्ष में आरोप करें, चाहे आप पशु-पक्षी में आरोप करें, और चाहे अपने व्यक्तिगत जीवन में आरोप करें। जो केवल लेता ही लेता है, उसी का नाम जड़ है। जड़ और किसी का नाम नहीं है। चाहे कोई मनुष्य की आकृति में हो और कहे कि हमारा

जीवन तो लेने ही के लिए हुआ है । तो भाई ! जड़ की इससे ऊँची और कोई परिभाषा ही नहीं है । जड़ वह, जो केवल लेता ही लेता है । और जो लेता-देता है, उसी को जड़-चिद् ग्रन्थि कहते हैं । जरा ध्यान दीजिए, जो कभी लेने की सोचता है कभी देने की, यही जड़-चिद्-ग्रन्थि है । और जो केवल देता है, उस श्रेणी में दो ही का नाम आता है या तो प्रेमी का या प्रेमास्पद का और किसी का नहीं ।

इसलिए भाई ! अब विचार यह करना है कि क्या आप और हम साधक नहीं हैं ? यदि हम और आप साधक हैं, तो हमारे और आपके जीवन में जो लेने और देने दोनों की बात है, कभी लेने की सोचते हैं, कभी देने की सोचते हैं, उनमें से एक बात निकाल देनी पड़ेगी । कौन सी ? लेने की बात, लेने की बात निकाल देनी पड़ेगी । तो जब हम अपने जीवन में-से लेने की बात निकाल देते हैं, सच पूछिये, उसी समय जड़ता से मुक्त होते हैं ।

जरा ध्यान दीजिए, जिसे कुछ नहीं चाहिए, क्या उसका शरीर से सम्बन्ध रह सकता है ? विचार तो करो । जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसका शरीर से सम्बन्ध नहीं रह सकता । क्योंकि शरीर से तद्‌रूपता कामनापूर्ति के लिए अपेक्षित है, कामना निवृत्ति के लिए नहीं । लोगों ने तो यहाँ तक कह दिया आवेश में आकर, भावावेश में आकर—अरे, भाई शरीर जो है, यह साधन का क्षेत्र है । ऐसा प्रायः कहते हैं न ? तो वह शरीर जो साधन का क्षेत्र है, वह इसी अंश में कि आप इस मानव-जीवन में लेना बन्द कर सकते हैं । तो भाई, जब हम कुछ नहीं लेना चाहते हैं, तब शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता ।

और जब शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता, तब योग हो जाता है। देखिये, योग शरीर के नाश करने से नहीं होता। जरा ध्यान दीजिए। और योग शरीर को बनाए रखने से भी नहीं होता। आप कितना पुष्ट शरीर बना लीजिये, उससे कोई योग हो जाय, यह कोई जरूरी नहीं है। और आप शरीर का नाश कर दीजिए, उससे कोई योग हो जाय, यह सम्भव नहीं है।

योग कब होता है ? कि जब आपका शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता। और शरीर से सम्बन्ध तोड़ने के दो उपाय हैं, बड़े सुगम दो उपाय। एक उपाय तो यह है कि भाई हमें किसी से कुछ लेना नहीं है। अपने अधिकार का जो त्याग है, यह भी शरीर से सम्बन्ध तोड़ने का एक उपाय है। और दूसरा—निज-विवेक का आदर। कहेंगे, कैसे ?

भाई, पता तो लगाओ कि हम क्या हैं ? यह जब पता लगाओगे, तो अगर आपने यह मान लिया कि हम जीव हैं, तो यह आपका ज्ञान नहीं है। यह आपका विश्वास हो सकता है। अगर आपने यह मान लिया कि हम ब्रह्म हैं, तो यह भी आपका ज्ञान नहीं होसकता, विश्वास होसकता है। इसका अर्थ कोई भाई-बहन यह न समझ बैठें कि मैं किसी के विश्वास को झूठ मानता हूँ, मैं विश्वास को झूठ नहीं मानता। किन्तु विश्वास को विश्वास मानता हूँ, ज्ञान नहीं मानता। बस, इतना ही अन्तर है। मैं यह नहीं मानता कि जो अपने को जीव मानता है, उसका बिश्वास झूठ है। या जो अपने को ब्रह्म मानता है, उसका विश्वास झूठ है—ऐसा मैं नहीं मानता, लेकिन उसको मैं ज्ञान नहीं मानता, उसको विश्वास मानता हूँ।

जीवन तो लेने ही के लिए हुआ है। तो भाई ! जड़ की इससे ऊँची और कोई परिभाषा ही नहीं है। जड़ वह, जो केवल लेता ही लेता है। और जो लेता-देता है, उसी को जड़-चिद् ग्रन्थि कहते हैं। जरा ध्यान दीजिए, जो कभी लेने की सोचता है कभी देने की, यही जड़-चिद्-ग्रन्थि है। और जो केवल देता है, उस श्रेणी में दो ही का नाम आता है या तो प्रेमी का या प्रेमास्पद का और किसी का नहीं।

इसलिए भाई ! अब विचार यह करना है कि क्या आप और हम साधक नहीं हैं ? यदि हम और आप साधक हैं, तो हमारे और आपके जीवन में जो लेने और देने दोनों की बात है, कभी लेने की सोचते हैं, कभी देने की सोचते हैं, उनमें से एक बात निकाल देनी पड़ेगी। कौन सी ? लेने की बात, लेने की बात निकाल देनी पड़ेगी। तो जब हम अपने जीवन में-से लेने की बात निकाल देते हैं, सच पूछिये, उसी समय जड़ता से मुक्त होते हैं।

जरा ध्यान दीजिए, जिसे कुछ नहीं चाहिए, क्या उसका शरीर से सम्बन्ध रह सकता है ? विचार तो करो। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसका शरीर से सम्बन्ध नहीं रह सकता। क्योंकि शरीर से तद्रूपता कामनापूर्ति के लिए अपेक्षित है, कामना निवृत्ति के लिए नहीं। लोगों ने तो यहाँ तक कह दिया आवेश में आकर, भावावेश में आकर—अरे, भाई शरीर जो है, यह साधन का क्षेत्र है। ऐसा प्रायः कहते हैं न ? तो वह शरीर जो साधन का क्षेत्र है, वह इसी अंश में कि आप इस मानव-जीवन में लेना बन्द कर सकते हैं। तो भाई, जब हम कुछ नहीं लेना चाहते हैं, तब शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता।

और जब शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता, तब योग हो जाता है। देखिये, योग शरीर के नाश करने से नहीं होता। जरा ध्यान दीजिए। और योग शरीर को बनाए रखने से भी नहीं होता। आप कितना पुष्ट शरीर बना लीजिये, उससे कोई योग हो जाय, यह कोई जरूरी नहीं है। और आप शरीर का नाश कर दीजिए, उससे कोई योग हो जाय, यह सम्भव नहीं है।

योग कब होता है? कि जब आपका शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता। और शरीर से सम्बन्ध तोड़ने के दो उपाय हैं, बड़े सुगम दो उपाय। एक उपाय तो यह है कि भाई हमें किसी से कुछ लेना नहीं है। अपने अधिकार का जो त्याग है, यह भी शरीर से सम्बन्ध तोड़ने का एक उपाय है। और दूसरा—निज-विवेक का आदर। कहेंगे, कैसे?

भाई, पता तो लगाओ कि हम क्या हैं? यह जब पता लगाओगे, तो अगर आपने यह मान लिया कि हम जीव हैं, तो यह आपका ज्ञान नहीं है। यह आपका विश्वास हो सकता है। अगर आपने यह मान लिया कि हम ब्रह्म हैं, तो यह भी आपका ज्ञान नहीं होसकता, विश्वास होसकता है। इसका अर्थ कोई भाई-बहन यह न समझ बैठें कि मैं किसी के विश्वास को झूठ मानता हूँ, मैं विश्वास को झूठ नहीं मानता। किन्तु विश्वास को विश्वास मानता हूँ, ज्ञान नहीं मानता। बस, इतना ही अन्तर है। मैं यह नहीं मानता कि जो अपने को जीव मानता है, उसका विश्वास झूठ है। या जो अपने को ब्रह्म मानता है, उसका विश्वास झूठ है—ऐसा मैं नहीं मानता, लेकिन उसको मैं ज्ञान नहीं मानता, उसको विश्वास मानता हूँ।

तो ज्ञान आपको क्या है ? आपको केवल इतना ज्ञान है कि "यह" काम "मैं" नहीं है। जरा ध्यान दीजिये, "यह" का नाम "मैं" नहीं है। "स्वीकृति" का नाम "मैं" नहीं है। तो भाई, "स्वीकृति" क्या है ? कि "स्वीकृति" जो साधनरूप है, वह तो कर्त्तव्य की प्रीतीक है। और जो असाधनरूप स्वीकृति है, वह अकर्त्तव्य की प्रतीक है।

स्वीकृति के दो भाग होते हैं न ? साधनरूप स्वीकृति कर्त्तव्य की प्रतीक है। और "कर्त्तव्य" माने क्या है ? कर्त्तव्य क्या है ? दूसरे का अधिकार। कर्त्तव्य का अथ ही है—दूसरे का अधिकार। और "अकर्त्तव्य" क्या है ? अधिकार-लालसा। अधिकार-लालसा अकर्त्तव्य का वह बीज है, जिसमें-से समस्त अकर्त्तव्य उत्पन्न होते हैं। लेकिन आज अधिकार माँगने को विकास का साधन बताया जाता है। अगर अधिकार माँगना विकास का साधन है, तो ह्रास क्या है भैया ? यदि अधिकार माँगने ही का नाम चेतना है, तो जड़ता क्या है ? यदि अधिकार माँगने ही का नाम पूर्णता है, तो अपूर्णता क्या है ? जरा ध्यान दीजिये।

तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि भाई ! ज्ञान आपको इसी बात का होता है कि "यह" का नाम "मैं" नहीं है। और दूसरा अपका ज्ञान यह है कि "स्वीकृति" का नाम "मैं" नहीं है। न "स्वीकृति" का नाम "मैं" है, न "यह" का नाम "मैं" है। तो यह तो हुआ आपका ज्ञान। और इस ज्ञान का प्रभाव क्या होगा ? इस ज्ञान का प्रभाव होगा—अधिकार का त्याग।

यह जो अधिकार-त्याग की बात आपस मैं निवेदन करता हूँ, बिना दार्शनिक-भित्ति के नहीं करता हूँ। यह दार्शनिक-

भित्ति है इस बात की कि जब "यह" का नाम "मैं" नहीं है, तो बताओ, आपका क्या अधिकार हैं ? किसी बहन से पूछो, किसी भाई से पूछो कि शरीर से अलग जानकर क्या आपको साड़ी चाहिए ? आपको जेवर चाहिए ? आपको पुत्र चाहिए आपको पति चाहिए ? आपको बन्धु चाहिए ? अगर ईमानदार बहन है, तो नहीं चाहिए। किसी पुरुष से पूछो कि भाई, शरीर से अलग जानकर क्या आपको पत्नी चाहिए ? भगिनी चाहिए ? पुत्री चाहिए ? अगर ईमानदार पुरुष है, तो कहेगा– नहीं चाहिए।

तात्पर्य क्या ? जिस समय आप अपने विवेक का आदर करते हैं और इतने ही अंश में जितने अंश में आप जानते हैं। "मैं जीव हूँ"—यह आप जानते नहीं, मानते हैं। "मैं ब्रह्म हूँ"—यह आप जानते नहीं मानते हैं। "मैं शिव हूँ"—यह आप जानते नहीं, मानते हैं। तो भाई ! मानने की बात तो पीछे कभी करेंगे, लेकिन जानने के आधार पर कोई भाई, कोई वहन यह कह ही नहीं सकते कि "मैं क्या हूँ" ? बस, यही कह सकते हैं कि "यह" नहीं हूँ। निषेद्रात्मक ज्ञान है आपको अपने सम्बन्ध में, और प्रतीत्यात्मक ज्ञान है आपको जगत् के सम्ब्रन्ध में। जरा ध्यान दीजिये। जगत् के सम्बन्ध में आपका प्रतीत्यात्मक ज्ञान है, यानी प्रतीति है जगत् की, ज्ञान जगत् का भी नहीं है। और अपने सम्वन्ध में केवल इतना ज्ञान है कि "यह" का नाम "मै" नहों है। "स्वीकृति" का नाम "मैं" नहीं है।

तो निषेधात्मक आप अपने सम्ब्रन्ध में जानते हैं, और प्रतीत्यात्मक आप जगत् के सबन्ध में जानते हैं। तभी तो लोग

कह देते हैं विचारशील कि हम कुछ नहीं जानते हैं—यही जानते है। यह जो बात कहते हैं वह असल पूछो तो उसका मूल यही है कि जगत् की प्रतीति है, प्राप्ति नहीं। और जिसकी प्राप्ति ही नहीं है, उसका ज्ञान कैसा ? तो है क्या ?

प्रतीति के आधार पर प्रवृत्ति है। अब वह जो प्रवृत्ति है, उसके हैं दो रूप—अपने सुख के लिए या दूसरों के हित के लिए। अगर अपने सुख के लिए प्रवृत्ति है, तो जड़ता। और दूसरों के हित के लिए प्रवृत्ति है, तो चिन्मयता। तो कहने का तात्पर्य यह था कि प्रवृत्ति काल में वही "मैं" जिसके सम्बन्ध में आपने निषेधात्मक निर्णय किया था, और यह कहा था कि भाई "यह" का नाम "मैं" नही है, "स्वीकृति" का नाम "मैं" नहीं है। वह "मैं" एक भाव शरीर में !

यहाँ जरा थोड़ी गम्भीर बात आयेगी। भाव शरीर किसे कहते हैं ? जिसमें आकृति पीछे हो और भाव पहले हो—अरे, यह कौन है ? यह लाला है लाला। अरे, यह कौन है ? बोले, यह तो लाली है लाली। क्या माथे में लिखा है ? क्या इसके माथे पर लिखा है कि लाली है ? क्या इसके माथे पर लिखा है कि लाला है ? एक बार हमारे यहाँ शुद्धबोध माताजी के पास एक बड़े अच्छे पढ़े-लिखे साधक आये, इन्कम टैक्स आफीसर थे। वे शुद्धबोध माताजी से पूछने लगे—माता जी ! क्या आपको यह नहीं मालूम होता कि मैं स्त्री हूँ ? तो माताजी बेचारी पढ़ी लिखी बिल्कुल नहीं। कहने लगीं—भैया मेरे ! क्या तुम्हारे शरीर में आधा शरीर स्त्री का नहीं है ? अब चुप। वे समझते थे कि शायद ये ज्ञान-ध्यान छाटेंगीं। वे बेचारी ज्ञान-ध्यान क्या जानें !

उन्होंने कहा भैया ! यह बताओ, तुम्हारे शरीर में आधा शरीर स्त्री का नहीं है ? तो कौन पुरुष यह दम भरता है कि मैं पुरुष हूँ ? वह क्या आधा नारी नहीं है ? और कौन नारी कहती है कि मैं नारी हूँ ? क्या वह आधी पुरुष नहीं है ? लेकिन क्या ? प्रतीति के आधार पर भाव ! जो प्रतीति के आधार पर भाव बनता हैं, उसी को जगत् कहते है। जगत् और कुछ नहीं है।

और भाई, और आगे चलो भीतर। जब भीतर की ओर चलते हैं तब ? बोले, भाव पहले और आकृति पीछे। यहाँ आकृति पहले और भाव पीछे।

तो जहाँ भाव पहले होता है। कौनसा भाव ? मैं सेवा हूँ। आरे भाई, पुरुष वर्ग ने कह दिया—सेवक हूँ। सेवक क्या ? सेवक माने वह बिन्दु जो बिखरे तो सेवा हो जाय। जरा ध्यान दीजिये। सेवक माने वह बिन्दु जो बिखरे तो सेवा हो जाय। किसी नारी-शरीर ने कहा—मैं सेविका। अरे, सेविका माने क्या ? जो बिखरे, तो सेवा हो जाय। जरा ध्यान दीजिये। तो सेवक होकर भी सेवक का अस्तित्व सेवा होकर विभु होता है। और सेविका होकर भी सेविका का अस्तित्व सेवा होकर विभु होता है।

अब भाई, सेवा क्या है ? सेवा का विवेकात्मक जो रूप है, वह है अधिकार-त्याग। और सेवा का जो भावात्मक रूप है, वह है—प्रियता। और सेवा का जो क्रियात्मक रूप है, वह है—मिले हुए का सदुपयोग। जरा ध्यान दीजिये। सेवा का जो क्रियात्मक रूप है, वही आज के बुद्धिमान मानव का कर्त्तव्य है। लेकिन है वह सेवा का क्रियात्मक रूप।

आप कहेंगे कि सेवा का जो भावात्मक रूप आपने प्रियता बताया, तो प्रियता क्या है ? जरा ध्यान दीजिये। जिसमें हमारी-आपकी प्रियता होती है, न तो हम-आप उसे बुरा समझते हैं, न हम और आप उसका बुरा चाहते हैं, और न हम और आप उसके साथ बुराई करने की सोचते हैं। तो जब जीवन बुराई करने की सोचना भी बन्द हो जाय और बुरा चाहना भी बन्द हो जाय, और बुरा समझना भी बन्द हो जाय, तब समझना चाहिए कि सेवा का जो भावात्मक रूप था, वह सिद्ध हुआ। और सेवा का विवेकात्मक रूप ? बोले, हमको कुछ नहीं चाहिये। हमको कुछ नहीं चाहिये। क्यों भाई ? क्यों कुछ नहीं चाहिये ? यह सेवा का 'विवेकात्मक रूप है। तो जो सेवा का विवेकात्मक रूप है, उससे असंगता प्राप्त होती है। और सेवा का जो भावात्मक रूप है, उससे उत्तरोत्तर प्रियता की वृद्धि होती है। और सेवा का जो क्रियात्मक रूप है, उससे संग्रह का नाश होता है, ममता का नाश होता है।

अगर हमारे जीवन में क्रियात्मक रूप से सेवा आ जाय तो न ममता रह सकती है, न संग्रह रह सकता है। और जहाँ ममता और संग्रह नहीं है, वहाँ संघर्ष हो ही नहीं सकता। जितने संघर्ष होते हैं सरकार ! वे होते हैं संग्रह में, ममता में। इसलिए आज स्थूल दृष्टि से हमारा दर्शन क्या हो जाता है ? हमारे रस का क्षेत्र क्या हो जाता है ? बहुत बड़ी बात कहेंगे तो यह कहेंगे कि मिले हुए का सदुपयोग करो। यह भी मालूम है किस अंश में ? अपनी जरूरत से ज्यादा हो, तब। आज की सेवा का अर्थ क्या ?

बोले, आप कौन हैं साहब ? हम मजदूर दल के लीडर हैं। बहुत सुन्दर बात। चलते हैं पैदल कि मोटर में ? कि चलते तो हैं मोटर में। बात पत्र से करते हैं कि टेलीफोन से ? कि बात तो करते हैं टेलीफोन से। और जाते कब है ? बुलाने पर और बोले, स्वागत कराने पर। देते क्या हैं ? कि खाली व्याख्यान। लेते क्या है ? मजदूरों की कमाई। ध्यान दीजिये, यह सेवा का क्रियात्मक रूप नहीं है।

और आप कौन हैं साहब ? हम हैं साहब ! मिल ओनर। बोले, करते क्या हैं ? कि आपको नहीं मालूम है ? हमने अपनी फैक्ट्री में एक स्कूल खोल रखा है। अच्छी बात है। भाई, ईमानदारी से बताओ कि जितनी सम्पत्ति आपने अपने एक लड़के के लिए रखी है, उसका कितना छोटा भाग स्कूल में लगाया है ? सो तो महाराज ! ईमानदारी की बात यह है कि बहुत थोड़ा लगाया है। और किया क्या है ?

लगाई के नाम अलग फर्म है और लड़के के लिये अलग है और साले के लिए अलग है और बहनोई के नाम अलग है और दामाद के नाम अलग है। और मालिक ? कि मालिक तो महाराज ! हमीं हैं। यह क्या है ? जरा सोचो। यह हमारी वह ईमानदारी कि जिसको लोग बेईमानी नहीं कहते। जरा सोचिये। लेकिन है क्या ? है वह बेईमानी कि जिससे बढ़कर और कोई बेईमानी हो ही नहीं सकती। जरा ध्यान दीजिये।

तो कहने का मेरा मतलब यह था कि आज सेवा का जो क्रियात्मक रूप है, वह कितना दूषित हो गया है ! कि सेवा के

क्रियात्मक रूप में भी अधिकार-लालसा ज्यों-की-त्यों । और वही हमने सिखाई ।

इसलिए भाई, आज का जो मौलिक प्रश्न है, वह यह है कि हमारे और आपके जीवन में जो रस की माँग है, वह रस की माँग पूरी नहीं हो सकती अधिकार माँगने से । इसलिये व्यक्तिगत दृष्टि से हम सबको इस बात का विचार करना पड़ेगा कि क्रियात्मक रूप जो सेवा है, उसी का नाम कर्त्तव्य-परायणता है । और कर्त्तव्य का अर्थ ही है—दूसरे के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग । इसलिए आज अगर हमको-आपको सचमुच रस प्राप्त करना है, तो प्रत्येक प्रवृत्ति में अपने सेव्य की सेवा होकर रहना है प्रत्येक प्रवृत्ति में । बोले, सेव्य कौन है ? जो प्रकट है । उस जाने हुए में जब आपकी निष्ठा नहीं रहती, उस जाने हुए में जब आपकी प्रियता नहीं रहती, तो जाने हुए में प्रियता न होना अथवा जाने हुए का प्रभाव न होना अथवा जाने हुए का आदर न करना—इन सबका एक ही अर्थ है ।

वैसे तो प्रत्येक शब्द के अर्थ में आंशिक भेद रहता है । और वह आंशिक भेद इसलिए नहीं रहता कि अर्थ वदलता है । वह आंशिक भेद इसलिए रहता है कि किसी साधक को किसी प्रकार से समझ में बात आती है और किसी साधक को किसी प्रकार से समझ में बात आती है । क्योंकि समझने का जो प्रकार है, वह प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग है । और यही एक कारण है कि आज हम लोग जो इस बात का प्रयास करते हैं कि जो हम करते हैं, वही दूसरे लोग करें । जो हम मानते हैं, उसी बात को दूसरे मानें । यह जो हमारा-आपका

आग्रह हो जाता है और खास तौर से सुधारकों का। इस आग्रह ने एक ऐसे स्थायी भेद को जन्म दिया है, एक ऐसे स्थायी संघर्ष को जन्म दिया है कि दो व्यक्ति ईमानदारी से एक दूसरे के साथ प्रेम नहीं कर पाते।

क्यों ? प्रेम में क्या बाधा होती है ? अजी, यह कौन हैं साहब ? ये तो मुसलमान हैं। भाई, मुसलमान किसे कहते हैं ? कि जो कलमा पढ़ता हो। तो भाई, कलमा का अर्थ क्या है ? कि भाई, कलमा का अर्थ तो यह है कि सिवाय खुदा के कुछ और है नहीं। बात ठीक ! और कलमा किस भाषा में है ? कि एक अरबी भाषा कहलाती है, बोले, उसमें वह कहा गया है। तो किसने कहा है ? कि एक खुदा का दोस्त था और उसको इलहाम हुआ और उसने बताया है। बात ठीक है। लेकिन उसका अर्थ क्या है ! बोले, उसका अर्थ तो यह है कि सिवाय खुदा के कोई और है नहीं। बात बड़ी सुन्दर ! जब सिवाय खुदा के कोई और है नहीं, तो समझ में नहीं आता कि आप उपदेश करने किसे जा रहे हैं ? आप किसे कह रहे हैं कि आप कलमा पढ़िये ? क्या आप खुदा से कह रहे हैं कि कलमा पढ़िये ? जरा ध्यान दीजिये।

इसी प्रकार कोई हिन्दू महोदय हों, वे कहेंगे—वाह ! सर्वं खल्विदं, ब्रह्मम् ब्रह्म से भिन्न तो कुछ हुआ ही नहीं। तो भाई, ब्रह्म से भिन्न तो कभी कुछ हुआ ही नहीं, तो फिर यह आप सिखाने किसको जा रहे हैं ? यह किसको आप पाठ पढ़ा रहे हैं ?

तो इन बातों का उत्तर आप किसी के पास है नहीं। तो करते क्या हैं लोग ? कि इन प्रश्नों को ही गलत कर देते हैं। उसी प्रकार जब मैं यह कहता हूँ कि आप लोग विवेक का आदर कीजिये, तब भी यही लांछन लग सकता है कि भाई, विवेक का अनादर किया किसने ? आप किसको कहते है कि विवेक का आदर कीजिये ? तो मानव सेवा संघ की नीति में तो आदेश और उपदेश अपने को दिया जाता है।

३१

विचारणीय बात यह है कि यदि संकल्प-पूर्ति काल में अपना अस्तित्व रह सकता है, तो संकल्प-निवृत्ति काल में भी अपना अस्तित्व रहेगा। अतः संकल्प-निवृत्ति को आदर देना बड़े महत्त्व की बात है।

जो भोगी है, वही कर्त्ता है। न तो शरीर कर्त्ता, न इन्द्रिय कर्त्ता, न मन कर्त्ता, न बुद्धि कर्त्ता।

अपने अधिकार माँगने का नाम 'पाप' रखलो और दूसरों के अधिकार की रक्षा का नाम 'पुण्य' रखलो।

जो जीवन है उसमें भेद नहीं है। जिसमें अपने को कुछ मान कर सन्तोष किया उसी का नाम हो जाता है दार्शनिक भेद।

(अ) यह दार्शनिक भेद साधन हुआ।

(ब) जहाँ समस्त दार्शनिक भेद मिट कर एक होते हैं, वह साधन-तत्त्व हुआ।

(स) और जो जीवन है, वह 'साध्य' है।

"है" में विशेष प्रियता, "है" में विशेष निष्ठा एवं "है" से अभिन्नता—यह साधन-तत्त्व है।

• • • •

३१

अ

प्रवचन :

इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव से प्रभावित होकर जब कर्त्ता संकल्प-पूर्ति के सुख को भोगना चाहता है, तब उसकी कर्म में प्रवृत्ति होती है। और जब कर्म में प्रवृत्ति होती है, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि हमने भला काम किया या बुरा काम किया। आप विचार करके देखें कि यदि संकल्प-पूर्ति का प्रलोभन हमको अभीष्ट न रहे—कल्पना करो कि हम इस बात का निर्णय कर लें कि भाई, हमें संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग नहीं करना है। आप सच मानिये, चाहे आप अनन्त जन्मों के विकार मानें, चाहे आप इस जन्म के विकार मानें, जो साधक संकल्प-पूर्ति के प्रलोभन का त्याग कर देता है, उस साधक में कभी-भी अकर्त्तव्य का जन्म नहीं होता। तो अकर्त्तव्य का बीज क्या है? अकर्त्तव्य का बीज है—संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग।

अब कोई यह कहे कि भला, प्राणी संकल्प-पूर्ति के बिना रह ही कैसे सकता है! तो अगर हम आपसे यह पूछें कि भला, प्राणी के क्या सभी संकल्प पूरे हो सकते हैं? यो यह बात भी आपको माननी पड़ती है कि सभी संकल्प पूरे नहीं होते। तो

जिस समय आपका संकल्प पूरा नहीं होता, क्या उस समय आपका अस्तित्व नहीं रहा ? यदि उस समय अस्तित्व रहता है, तो हमें इससे बड़ा प्रकाश मिलता है। और वह प्रकाश यह मिलता है कि यदि संकल्प-पूर्ति में अपना अस्तित्व रह सकता है, तो संकल्प-निवृत्ति में भी अपना अस्तित्व रह सकता हैं। अगर हम संकल्प निवृत्ति को आदर देने लगें, संकल्प-निवृत्ति का महत्त्व अपनालें, तो संकल्प-अपूर्ति का जो दु:ख था, वह अपने आप मिट जाता है। और जब संकल्प-अपूर्ति का दु:ख मिट जाता है, तब संकल्प-पूर्ति के सुख का कोई महत्त्व ही नहीं रहता।

तात्पर्य क्या निकला ? कि जब संकल्प-पूर्ति के सुख का महत्त्व नहीं रहता, तब अकर्त्तव्य का जन्म ही नहीं होता।

अब लोग सन्देह करते हैं कि हाय ! हाय !! यह कैसी निर्दोषता है, जो जरा-सी असावधानी से दोष में बदल जाती है ! नहीं-नहीं भाई, निर्दोषता कभी दोष में नहीं बदलती तो दोष में कौन बदलता है ? कि जो आंशिक निर्दोष और आंशिक दोषी है।

देखिये, जरा ध्यान दीजिये ! दोष "यह" में नहीं है, दोष "है" में नहीं है। "है" में दोष हो नहीं सकता, क्योंकि "है" कहते ही उसका हैं, जो अविनाशी हो। और जो अविनाशी होता है, उसमें विकार नहीं होता। यह नियम है। और जिसमें विकार नहीं होता, उसमें दोष आयेगा कहाँ से ?

और 'यह" कहते किसको हैं ? कि जो विनाशी हो। जरा ध्यान दीजिये। विनाशी बेचारे में दोष रहेगा कहाँ से ! विनाशी

ही एक इतना बड़ा दोष है कि जो और सभी दोषों में आ ही नहीं सकता।

तो विनाशी में दोष नहीं, अविनाशी में दोष नहीं। जरा ध्यान दीजिये। जिसका नाश हो रहा है, उसमें कर्त्तृत्व नहीं होता और जो अविनाशी है, उसमें भी कर्त्तृत्व नहीं होता। यहाँ जरा दर्शन की बात आ गई। जो विचारक हैं, उन्हें तो रस मिलेगा। और भोले-भोले बेचारे कहेंगे कि यह क्या बक रहा है! जरा ध्यान दीजिये। जो अविनाशी है, उसमें कर्त्तृत्व हो नहीं सकता क्योंकि उसे कुछ चाहिये नहीं। और जो विनाशी है, उसमें कर्त्तृत्व हो नहीं सकता, क्योंकि उसमें चेतना नहीं है। जिसमें चेतना नहीं उसमें कर्त्तृत्व नहीं। और जो स्वभाव से ही चैतन्य है, उसमें कर्त्तृत्व नहीं।

तो कर्त्तृत्व है किसमें? मानना पड़ेगा कि उसमें, जो न अविनाशी है और न नाशवान। आप कहेंगे, बड़े आश्चर्य की बात है, कहते हैं कि अविनाशी भी नहीं है, और है, और नाशवान भी नहीं है, और है। यही तो आश्चर्य है। और इसी आश्चर्य को हल करने के लिये आपको और हमें यह सोचना पड़ेगा कि बताओ, संकल्प का उद्‌गम स्थान क्या है!

संकल्प किसमें उत्पन्न होता है? तो आजकल के सस्ते छापे खाने में पढ़ कर लोग कहते हैं कि मन में होता है! अरे भाई! मन में संकल्प? कोई मन कर्त्ता है? कोई कहदे कि फाउण्टेनपैन में लिखने का संकल्प है। आप कहेंगे कि पागल हो गया है! भला, कलम में भी कभी लिखने का संकल्प होता है? बहुत ठीक। तो फिर मन में कैसे लिखने का संकल्प हो जायेगा?

मन भी तो करण है। तो मन में संकल्प करने की सामर्थ्य नहीं है। जरा ध्यान दीजिये। मन संकल्प का कर्त्ता नहीं है। मन कर्त्ता की रुचि-पूर्ति के लिये संकल्प के रूप में परिणत होता है। जरा ध्यान दीजिये। साधारण व्यक्ति कहते हैं कि मन में संकल्प होता है। मन में संकल्प नहीं होता। मन और संकल्प, ये दोनों अभेद हैं 'अभेद'। लेकिन इस रहस्य को आप जान क्यों नहीं पाते? इसलिये नहीं जान पाते कि आंशिक संकल्प आपके पूरे होते रहते हैं, कुछ विना पूरे हुए रहते हैं।

इसलिये पूर्ति-अपूर्ति का जो द्वन्द्व है, इस कारण आप कभी-भी संकल्प और मन का विभाजन देख नहीं पाते। और जब संकल्प और मन का विभाजन नहीं देख पाते, तो हार मान कर आप कहने लगते हैं कि मन में संकल्प उठते हैं। अच्छा भाई, मन में संकल्प उठें और दुःखी आप हों! जैसे कोई कहे कि मोटर चल रही है, लेकिन परेशान हम हैं। अजीब आदमी हो, चल रही है मोटर और परेशान हैं आप!

इससे भाई, यह सिद्ध होता है कि हम लोग ज्ञान के सम्बन्ध में भी सीखी हुई बातों को अमल में लाते हैं। तो जब तक जिज्ञासु सुनी हुई और सीखी हुई बात को अमल में लायेगा, तब तक वह सिखाने वाला ज्ञानी तो हो जायेगा, पर उसे ज्ञान नहीं होगा। इसलिये कभी-कभी मैं बिनोद में कहता हूँ कि पढ़ने से ज्ञान नहीं होता। लोग इसको विनोद समझकर टाल भी देते हैं, और कोई-कोई जो पण्डित होते हैं, जो सचमुच पण्डित होते हैं, वे इस बात को मान भी लेते हैं।

क्यों ? जरा सोचिये। ज्ञान का प्रकाश विवेक में अवतरित हुआ। विवेक से बुद्धि में आया। बुद्धि ने उसको संकल्प का रूप देकर मन के स्तर पर कर दिया। और मन ने इन्द्रियों के स्तर पर लाकर के दो भागों में बाँट दिया—एक क्रिया रूप में, एक ज्ञान रूप में।

अगर आँख देखती है, तो पैर चलता है। अब आँख ने देखा कि अमुक वस्तु वहाँ पड़ी हैं। लेकिन आँख में यह सामर्थ्य नहीं है कि उस वस्तु को उठाले, तब पैर वहाँ तक चलेगा। लेकिन पैर में भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह उस वस्तु को उठाले, तब हाथ उठायेगा। लेकिन हाथ में भी वह सामर्थ्य नहीं है कि वह उस वस्तु को खाले। तव मुँह खायेगा। और जब मुँह खायेगा, तो मुँह में यह सामथ्यं नहीं है कि उस वस्तु को पचाले। तब वह पेट के पास संग्रह कर देगा। ओर पेट पचायेगा और सब अवयवों को बाँट देगा। यह प्रवृत्ति आप रोजाना देखते हैं कि नहीं ? लेकिन इसमें आपने कभी यह भी विचार किया कि क्रिया में ज्ञान नहीं, ज्ञान में क्रिया नहीं !

अब आप भौतिक बुद्धि से जोर लगायें कि भाई, देखना भी एक क्रिया है और सुनना भी एक क्रिया है। अरे भाई, देखना तो ज्ञान-इन्द्रिय है, वह भी क्रिया है ? इस प्रकार के ज्ञान को जब आप क्रिया मान लेते हैं, तब वह ज्ञान-इन्द्रिय बिना संकल्प के काम नहीं करती।

तात्पर्य क्या निकला ? कि मन के स्तर पर ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों एक हो जाते हैं। जहाँ मन के स्तर पर पहुँची वृत्ति, जहाँ आपने मन के स्तर तो समझा, ती वहाँ

देखने का जिसमें संकल्प उसी में हाथ से उठाने का संकल्प। संकल्प-कर्त्ता दो नहीं। जरा देखिये। जिसको देखने का संकल्प होता है, उसी को चलने का भी संकल्प होता है, उसी को सुनने का भी संकल्प होता है। संकल्प का कर्त्ता एक और देखने व करने के यन्त्र दो, दो प्रकार के हो गये। एक को ज्ञानेन्द्रिय के नाम से कहा आपने और एक को कर्मेन्द्रिय के नाम से कहा। तो मन के स्तर पर कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों एक हो गईं।

लेकिन मन में संकल्प उठे, आप निर्णय कर दें कि अमुक काम हम नहीं करेंगे—अगर आप यह निर्णय कर दें कि यह करने योग्य नहीं है, हम नहीं करेंगे, तो मन अपने आप उस संकल्प को छोड़ देता है। तो आप सोचिये कि अगर मन स्वतन्त्र संकल्पकर्त्ता होता तो बुद्धि के निर्णय मात्र से कैसे छोड़ देता ? तो पता चला कि बुद्धि भी एक करण है। और उसने जो बात बताई, उसके आधार पर संकल्प का त्याग कर दिया अथवा पूरा कर दिया।

अब आप सोचिये कि बुद्धि यह निर्णय कब करती है ? अगर आपने संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग स्वीकार किया है, तभी बुद्धि निर्णय करेगी कि ऐसा करो। और आप कहें कि हमें संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग स्वीकार नहीं है, तो बुद्धि बेचारी कभी निर्णय करने नहीं जायेगी। सार क्या निकला ? कि जो भोगी है, वही कर्त्ता है।

जरा ध्यान दीजिये। न तो शरीर कर्त्ता, न इन्द्रियाँ कर्त्ता, न मन कर्त्ता, न बुद्धि कर्त्ता। कर्त्ता कौन ? बोले, भोगी। अब भोगी का पता लगाओ कि भोगी कौन है ? अब आप भोगी

का पता लगाने चलेंगे, तो सच मानिये—"यह" को आप भोगी नहीं कह सनते। जिसको "यह" कहके सम्बोधन करते हैं, उसको आप भोगी नहीं कह सकते। और जिसको 'है' करके अथवा "वह" करके सम्बोधन करते हैं, उसको आप भोगी नहीं कह सकते।

तो "यह" भोगी नहीं और "वह" भोगी नहीं। इससे तो यह सिद्ध हो गया कि जो विनाशी था, वह भोगी नहीं है। और "है" भोगी नहीं हुआ। जो अविनाशी है, वह भोगी नहीं है। तो भला, बताओ तो भाई ! फिर भोगी है कौन ? अविनाशी भोगी नहीं, विनाशी भोगी नहीं। तो जब आप भोगी का पता लगाने चलेंगे और अपने को 'यह" से भी हटा लेंगे और "है" से भी हटा लेंगे, तो "यह" से और "है" से हटाते हो भोगी नाश हो जायेगा। और जब भोगी नाश हो जायेगा, तब योग रह जायेगा। लेकिन एक बात जानते हैं आप कि उसमें एक बड़ा चमत्कार है। और वह चमत्कार यह है कि "यह" को निकाल देने के बाद और "है" को निकाल देने के बाद, भोगी का अस्तित्व नहीं रहता। यह निर्विवाद सत्य है। किन्तु रहता क्या है ? योग रहता है योग !

जब भोगी नहीं रहता, तब भोग नहीं रहता। और जब भोग नहीं रहता, तब रहता है "योग"। तो क्या वह योग श्रम-साध्य है ? कदापि नहीं। और आप जानते हैं कि जो श्रम-साध्य नहीं होता, वह हमेशा अखण्ड होता है। और जो श्रम-साध्य होता है, वह हमेशा खण्डवाला होता है। तो उलझन कहाँ पड़ी ? कि भोगी रहते हुये, योग-दर्शन की टीका कर बैठे। जरा ध्यान दीजिये। भोगी होकर क्रिया योग-दर्शन

का टीका, तो लगाया योग में भोग। और यह विभूति-पद क्या है ? यह योग में भोग है। तो भोगी होकर किया योग-दर्शन का टीका तो लगा दिया योग में भोग। और भोगी होकर किया वेदान्त दर्शन का टीका, तो लगा दिया ज्ञान में भोग। और भोगी होकर किया आस्तिक-दर्शन का टीका तो लगा दिया प्रेम में भोग।

प्रेम में भोग कैसा ? ज्ञान में भोग कैसा ? और योग में भोग कैसा ? आप कहने लगे—"मैं योगी !" आप कहने लगे—"मैं ज्ञानी !" आप कहने लगे—"मैं प्रेमी !" तो भाई, जरा सोचो तो सही। मैं और योगी दो चीज हो गई न ! अच्छा भाई, योग को निकाल कर "मैं" क्या चुप होना पड़ता है। ज्ञान को निकाल कर "मैं" क्या चुप होना पड़ता है। प्रेम को निकालकर "मैं" क्या चुप होना पड़ता है।

तात्पर्य क्या निकला ? तात्पर्य यह निकला कि भाई, योग प्राप्त होने पर जब तक हम योगी हैं, तब तक योग के भोगी हैं। और ज्ञान प्राप्त होने पर जब तक हम ज्ञानी हैं, तब तक ज्ञान के भोगी हैं। और प्रेम प्राप्त होने पर जब तक हम प्रेमी हैं, तब तक हम प्रेम के भोगी हैं। और भाई, जो प्रेम का भोगी है, वह कभी-कभी काम का भोगी हो सकता है। और जो ज्ञान का भोगी है, वह कभी-कभी अज्ञान का भोगी हो सकता है। और जो योग का भोगी है, वह कभी-कभी भोग का भोगी हो सकता है। इस कारण यह समस्या सुलझ नहीं पाती। और जितना इसको सुलझाते हैं, उतनी उलझती ही मालूम होती है कि भाई, हम कैसे मान लें कि वर्तमान निर्दोष है !

अरे भाई, वर्तमान निर्दोष तो ऐसे मान लो कि जहाँ भोगी का नाश है, वहाँ दोष का अत्यन्त अभाव है। तो भोगी का

नाश कैसा होता है ? किसी अभ्यास से होता है ? नहीं, नहीं। भोगों का नाम नाश होता है विवेक से । और किस विवेक से होता है ? जो विवेक आपको प्राप्त है । कौनसा विवेक आपको प्राप्त है ?

जरा सोचो तो सही। कर्त्तव्य के क्षेत्र में किसे अकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं है ? कर्त्तव्य के क्षेत्र में सभी को अकर्त्तव्य का ज्ञान है। कर्त्तव्य के क्षेत्रके ऊपर है योग-विज्ञान। कर्त्तव्य-विज्ञान की जहाँ समाप्ति होती है, वहीं से योग-विज्ञान का प्रारम्भ होता है।

आप कहेंगे योग-विज्ञान क्या है ? जहाँ शुद्ध संकल्प की पूर्ति के सुख का भोग नहीं है। जहाँ अशुद्ध-संकल्प की निवृत्ति है और शुद्ध-संकल्प की पूर्ति है—यह है कर्त्तव्य-विज्ञान। अशुद्ध-संकल्प की निवृत्ति से दोषों का नाश और शुद्ध-संकल्प की पूर्ति से दूसरों के अधिकार की रक्षा। यही नियम है। शुद्ध-संकल्प की पूर्ति जो होती है, वह दूसरों के अधिकार की रक्षा में होती है। और अशुद्ध संकल्प को जो त्याग होता है, वह अपने अधिकार के त्याग में होता है।

आप कहेंगे, हम कैसे मान लें ? जरा ध्यान तो दीजिये। अशुद्ध संकल्प कहते किसको हैं ? अशुद्ध संकल्प का अर्थ है—वस्तु के द्वारा, सुख की आशा। सुख मिले न मिले, अलग की बात लेकिन सुख की आशा। तो जब वस्तु के द्वारा सुख की आशा हुई, तो लोभ की उत्पत्ति हो गई। और जब व्यक्ति के द्वारा सुख की आशा हुई, तो मोह की उत्पत्ति हो गई। और जहाँ लोभ-मोह की उत्पत्ति हुई, वहाँ सभी विकारों उत्पत्ति हो गई।

क्योंकि प्रत्येक विकार में अनन्त विकार है। ऐसी कोई विकार नहीं है, जिसमें सभी विकार न हो। इसी प्रकार ऐसी निर्विकारता कोई नहीं है, जिसमें समस्त निर्विकारता न हो। हम लोग यह ध्यान नहीं देते, विचार नहीं करते। सच बात तो यह है कि जब विकार का नाश होता है, तब समस्त विकारों का नाश होता है। जब तक समस्त विकारों का नाश न दिखाई दे, तब तक सोचना चाहिये कि विकार की कमी हुई। और विकार की कमी तो सदैव ही जीवन में रहती है। क्योंकि सर्वांश में तो कोई विकारी होता ही नहीं। सर्वांश में तो कोई दोषी होता ही नहीं।

तो आंशिक निर्दोषता तो जीवन में रहती ही है। लेकिन आंशिक निर्दोषता को निर्दोषता नहीं कहते। इसलिये नहीं कहते कि जब सर्वांश में निर्दोषता आती है, तभी निर्दोष-जीवन कहते हैं। तो तात्पर्य कहने का यह निकला कि वस्तु, व्यक्ति के द्वारा जो सुख की आशा है, यह है अपना अधिकार और इसी का नाम है अकर्त्तव्य। सच मानिये तो अपने अधिकार का दूसरा नाम दोष है। और दूसरों के अधिकार की रक्षा का दूसरा नाम निर्दोषता कह सकते हैं। अगर अपने अधिकार का नाम 'पाप' रख लो, तो दूसरे के अधिकार का नाम 'पुण्य' रख लो। अगर अपने अधिकार का अकर्त्तव्य रख लो, तो दूसरे के अधिकार का नाम कर्त्तव्य रख लो। जो यह कर्त्तव्य-विज्ञान है, इसमें अपने अधिकार का त्याग और दूसरे के अधिकार की रक्षा की बात बताई है।

और इसका फल यह बताया कि कर्त्तव्य-विज्ञान सुन्दर समाज का निर्माण करके कर्त्ता को राग-रहित कर देता है।

यानी कर्त्तव्य-विज्ञान का यह फल है कि सुन्दर समाज का निर्माण भी हो जायेगा और कर्त्ता रागसे रहित भी हो जायेगा। तो जब कर्त्ता राग से रहित होता है, तब कर्त्तव्य-विज्ञान अपने आप योग-विज्ञान में विलीन होजाता है, चाहे तो यों मान लो। और चाहे यों मान लो कि कर्त्तव्य-निष्ठ प्राणी योग को प्राप्त हो जाता है।

तो योग-विज्ञान क्या है भाई ? कि योग-विज्ञान में श्रम नहीं है। अच्छा, और क्या है ? योग-विज्ञान में बाहरी हलचल नहीं है, प्रवृत्ति नहीं है। तो क्या गति नहीं है ? कि नहीं, गति तो हैं। यहाँ गति में और प्रवृत्ति में बड़ा अन्तर है।

प्रवृत्ति हमेशा "पर" की ओर होती है। और गति हमेशा "स्व" की ओर होती है। तो जो "पर" की ओर प्रवृत्ति होती है, वह पराधीनता में, जड़ता में, अभाव में आबद्ध करती है। और "स्व" की ओर जो गति होती है, वह स्वाधीनता से, चिन्मयता से, पूर्णता से अभिन्न करती है। इसलिये योग-विज्ञान की जो गति है, वह "स्व" की ओर है, "पर" की ओर नहीं अथवा यों कह दो कि वह "है" की ओर है, "यह" की ओर नहीं है। अथवा यों कह दो कि वह "अनन्त" की ओर है, 'सीमित" की ओर नहीं है।

तो योग-विज्ञान की जो गति है, उस गति में कर्त्तत्व की गंध भी नहीं है। और जिसमें कर्त्तत्व क गंध भी नहीं हैं, वह स्वतः है स्वतः। और स्वतः कहते ही उसको हैं, जो अपने आप हो। तो वही योग-विज्ञान किसमें बदलता है ? तत्त्व-ज्ञान में। जब तत्त्व-ज्ञान में योग-विज्ञान बदलता है, उसी को

आध्यात्म-विज्ञान कहना चाहिये। कर्त्तव्य-विज्ञान ने हमें योग-विज्ञान में प्रवेश करा दिया। और योग-विज्ञान ने अध्यात्म-विज्ञान में प्रवेश करा दिया। तो अध्यात्म-विज्ञान से क्या मिलता है भाई ? अध्यात्म-विज्ञान जो है वह केवल परम प्रेम का प्रतीक है। अध्यात्म-विज्ञान का अर्थ ही यह होता है कि जहाँ केवल परम प्रेम है। उसी परम प्रेम का नाम आस्तिक-विज्ञान है।

तो आस्तिक-विज्ञान जो हुआ, वह 'साध्य' हुआ। और अध्यात्म-विज्ञान, योग-विज्ञान और कर्त्तव्य-विज्ञान—ये क्या हुये ? ये साधन-तत्त्व हुये। जरा ध्यान दीजिये। कर्त्तव्य-विज्ञान योग-विज्ञान, अध्यात्म-विज्ञान—ये हैं साधन-तत्त्व, साधन नहीं, साधन-तत्त्व। और आस्तिक-विज्ञान जो है, यह है 'साध्य-तत्त्व'। तो साध्य-तत्त्व और साधन-तत्त्व, इन दोनों में जातिय एकता है इन दोनों में स्वरूप की एकता हैं। और इन दोनों में स्वरूप की एकता होने से 'साधन-तत्त्व' और 'साध्य' में कभी दूरी नहीं रहती, कभी भेद नहीं रहता। जरा ध्यान दीजिये। दूरी नहीं रहती, भेद भी नहीं रहता। और सच पूछिये तो कभी मिलन भी नहीं होता।

आप कहेंगे, अजीव आदमी है। दूरी भी नहीं मानते, भेद भी नहीं मानते और मिलन नहीं मानने। तो भाई, अगर दूरी मिटा करके चुप होजाते हैं, तो उन्हीं में योग का अभिमान रहता है। जो दूरी मिटा करके चुप होजाते हैं, और कहते हैं कि बस, यही पूर्णता है, उन्हीं में योग का अभिमान होता है। और जो भेद मिटा करके चुप होजाते हैं और ये स्वीकार करते हैं कि इसी में पूर्णता है, उन्हीं को इस बात का अभिमान होता

है कि 'मैं ज्ञानी हूँ'। और जो भाई प्रेम प्राप्त करके उसकी पूर्णता मान लेते हैं, उन्हीं में यह बात रहती है 'मैं प्रेमी हूँ'।

तो "मैं प्रेमी हूँ", "मैं ज्ञानी हूँ", "मैं योगी हूँ"—यह अलग-अलग जो आप स्वीकार करते हैं, वह दार्शनिक भेद होता है। दार्शनिक भेद और कुछ नहीं। किसी ने योगी मान कर सन्तोष किया, किसी ने ज्ञानी मान कर सन्तोष किया, किसी ने प्रेमी मान कर सन्तोष किया। तो जिसने 'कुछ' मान कर सन्तोष किया, उसी का नाम होजाता है—दार्शनिक भेद। यह दार्शनिक भेद कोई बुरी बात नहीं है। यह मत समझिये कि दार्शनिक भेद का होना कोई असाधन है, असाधन नहीं है। लेकिन दार्शनिक भेद होने पर भी जो जीवन है, उसमें भेद नहीं।

तो दार्शनिक भेद हुआ–साधन। और जहाँ समस्त दार्शनिक भेद मिट करके एक होते हैं,वह हुआ—साधन-तत्त्व। और जो जीवन है, वह हुआ 'साध्य'। तात्पर्य क्या निकला? कि प्रत्येक साधक को अपने-अपने साधन द्वारा साधन-तत्त्व से अभिन्न होना है। वह साधन-तत्त्व क्या है? आस्तिक-विज्ञान, आस्तिकता नहीं। जरा ध्यान दीजिये। आस्तिकता में और आस्तिक-विज्ञान में एक अन्तर है।

आस्तिक विज्ञान कहते हैं—'है" का विज्ञान। "है" का विज्ञान या "है" विशेष-निष्ठा—यह भी कह सकते हैं। "है" में विशेष-प्रियता—यह भी कह सकते हैं। और यह भी कह सकते हैं कि "है" अभिन्नता। तो यह जो आस्तिक-विज्ञान है, यह है 'साधन-तत्त्व'। और यह साधन-तत्त्व 'साध्य' का स्वभाव है।

और इसी बात को जब मैं अपनी बोल-चाल की भाषा में कहता हूँ, तो कहता हूँ कि भाई, 'प्रेम' जो है वह प्रेमी का तो जीवन है और प्रेमास्पद का वह स्वभाव है। उसी आस्तिक-विज्ञान को व्यक्त करने के लिये किसी ने 'राधा-तत्त्व' कहा। किसी ने 'गौरी-तत्त्व' कह दिया। और किसी ने 'सीता-तत्त्व' कह दिया। और आस्तिक-विज्ञान को व्यक्त करने के लिये किसी ने ज्ञान के साथ 'विज्ञान' कह दिया, निर्विशेष में अगाध-प्रियता।

ज्ञान के साथ विज्ञान। और जो निर्विशेष है, उसी में अनन्त विशेषण भी है। उसके साथ जो अगाध प्रियता है, उसी को किसी ने राधा-तत्त्व के नाम से कहा, किसी ने गौरी-तत्त्व के नाम से कहा, किसी ने सीता-तत्त्व के नाम से कहा।

तो बात क्या हुई? कि हम देहाभिमानियों ने इनको अलग-अलग करके, बीच में अपने-अपने साम्प्रदायिक भेद को जन्म दिया। तो मानव-सेवा-संघ की नीति के अनुसार साम्प्रदायिक भेद बुरा नहीं है। लेकिन साम्प्रदायिक भेद में प्रीति का भेद हुआ, यह बुरा है। इसलिये भाई! प्रत्येक साधक का अलग-अलग साधन होने पर भी, यदि प्रत्येक साधक में प्रत्येक साधक के प्रति प्रीति की एकता नहीं है, तो वह साधक नहीं हो सकता।

क्यों? प्रीति की भिन्नता सत्य की खोज नहीं करने देगी। प्रीति की भिन्नता द्वेष का नाश नहीं होने देगी। जहाँ द्वेष का नाश नहीं होता, वहाँ राग का नाश कभी नहीं होता। और जहाँ राग का नाश नहीं होता, वहाँ भोग का नाश कभी

नहीं होता। और जहाँ भोग का नाश नहीं होता, वहाँ योग की प्राप्ति कभी नहीं होगी। और जहाँ योग-विज्ञान में ही प्रवेश नहीं होता, तो अध्यात्म-विज्ञान की तो बात ही कहाँ चल सकती है! और जहाँ अध्यात्म-विज्ञान में ही प्रवेश नहीं है, वहाँ अस्तिक-विज्ञान की तो चर्चा ही नहीं हो सकती।

इसलिये भाई! जो हमारा-आपका मौलिक प्रश्न है, वह है—निर्दोष जीवन से अभिन्न होना। तो निर्दोष-जीवन से अभिन्न होने के लिये कर्त्तव्य-विज्ञान द्वारा हम अपने को रोग-रहित बनायें ओर सुन्दर समाज का निर्माण करें।

ब

अब एक बात ध्यान देने की है कि सुन्दर समाज का निर्माण करें—यह बात तो बोल-चाल की भाषा है। नहीं तो, सीधी बात तो यह है कि कर्त्तव्य-विज्ञान को अपनाते ही सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है। सुन्दर समाज निर्माण की कसौटी यह नहीं है कि सुन्दर-सुन्दर सड़कें बन जायँ, सुन्दर-सुन्दर मकान बन जायँ, सभी आवश्यक सामान मिल जाय, कोई व्यक्ति ऐसा न रहे कि जिसके पास पाँच कमरे न हों, कोई व्यक्ति ऐसा न रहे कि जिसके पास कार न हो। यह जो लोग सोचते हैं सुन्दर समाज के अर्थ में, यह उनका सोचना इस दृष्टि से भले ही सही मालूम होता हो कि भाई, कार की वासना है और कार नहीं मिलती ठीक बात है भाई। अगर कार में कोई भी बैठ सकता है, तो हर एक भाई बैठ सकता है।

तो मैं इस भावना का विरोधी नहीं हूँ। इस भावना का विरोधी नहीं हूँ कि हर आदमी को कार न मिले। लेकिन मैं यह कहना चाहता हूँ कि कार की जीवन में आवश्यकता हर आदमी को नहीं होना चाहिये। देखिये, जरा ध्यान दीजिये। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि हर आदमी को बंगला न मिले, कि हर आदमी को कार न मिले। यह मेरा तात्पर्य कभी-भी नहीं है। लेकिन जरा सोचिये। हर आदमी को कार की

अवश्यकता है क्या ? आप कहेंगे, क्यों नहीं ? हर आदमी को कार की आवश्यकता है। तो मैं आपसे पूछता हूं कि हर आदमी को कार की ही आवश्यकता है, तो और चीजें कौन बनायेगा ? तो मानना पड़ता है कि जिसको समय कम हो और कार्य अधिक हो, उसको कार की आवश्यकता है। और जिसको समय अधिक है और कार्य कम है, उसके लिये कार बेकार। मैं सच कहता हूं, बिल्कुल बेकार।

क्यों ? घोड़े से जब ऐक्सीडेण्ट होता था, तो बहुत कम चोट लगती थी। और कार से जब होता, है, तब ? और प्लेन से जब होता है, तब क्या दशा होती है ? तो जहाँ आप कार में बैठने के सुख के प्रलोभन में आबद्ध होते हैं और यह सोचने लगते हैं कि हर आदमी को कार चाहिए या जिसके पास कार है वह सोचता है कि मुझको हर वक्त कार चाहिये—ये दोनों बातें गलत हैं। हर वक्त कार नहीं चाहिए। और हर वक्त कार चाहिए, तो कार वाले आकर जंगल में घूमते क्यों हैं ? जरा विचार कीजिये। हर वक्त अगर कार चाहिए, तो घूमने का काम तो कार नहीं दे सकती !

तो ये जो आज हमारे जीवन में एक सन्तुलन नहीं रहा, एक सावधानी नहीं रही कि जो चीज हमको नहीं चाहिये, वह भी चाहिये और जो चीज चाहिये, वह भी चाहिए। इस रोग ने आज के धनी को महाराज, महा निर्धन बना दिया ! कोई अभिमान भले ही करे कि मेरे पास धन है। मैं तो कहता हूँ कि धनी जितना निर्धन है, उतना निर्धन निर्धन नहीं है।

क्यों ? निर्धन को श्रम करना पड़ता है और श्रम करता है और पेट भरता है। और धनी जो है, वह श्रम भी करता है,

पेट भी भरता है और भूखा भी रहता है। जितनी चिन्ता जितना भय, जितनी संकीर्णता—जरा ध्यान दीजिए—संकीर्णता का अर्थ यह नहीं है। आपने दस लाख में-से एक लाख दे दिया और बड़े उदार हो गये। अरे, आपने तो अपने में-से एक बटा दस दिया। उदार तो वह है जिसने डेढ़ रुपया मजदूरी से कमाया और रात को उपवास किया और पूरा दे दिया। आप किसी धनी को इतना दानी बता सकते हैं कि जिसने अपनी पूंजी का बड़ा हिस्सा दान में दिया हो और छोटा हिस्सा रखा हो? आपको हम गरीबों में सैकड़ों को बता दें कि जिन्होंने बड़ा हिस्सा दान में दिया और छोटा हिस्सा रखा। तो बताइए उदार कौन ज्यादा हुआ? इसका अर्थ कोई भाई यह न समझ बैठें कि मैं किसी व्यक्ति विशेष से यह बात कहता हूँ। उसूल से सोचिए।

तो धन के संग्रह से कोई निर्धनता मिट जाय—यह बात नहीं है। हाँ, धन के सग्रह से एक मिथ्या अभिमान आ जाय, यह बात जरूर है। और धन न रहने से कोई निर्धन हो जाय, यह बात भी जरूरी नहीं है। तो आज रोग क्या लगा? कि जिसके पास धन नहीं है, वह भी अपने को निर्धन मानता है और जिसके पास धन है, वह भी अपने को निर्धन मानता है। और दोनों निर्धन मान कर, एक सोचता है कि हम किसी तरह से नहीं देंगे, एक कहता है कि हम बलपूर्वक छीन लेंगे।

तो जरा ध्यान दीजिए। क्या यह मानवता है? वह मानवता नहीं है। क्या यह साधन है? साधन नहीं है। क्या इससे विकास होगा? विकास नहीं होगा। आज तुम छीन लोगे, तो छीनने की मनोवृत्ति से कल दूसरे लोगों में यह

बात पैदा होगी। और वे भी छीन लेंगे। और छीनने का एक क्रम चल जायेगा।

तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि भाई, कर्त्तव्य-विज्ञान का अर्थ केवल इतना है कि जो आपको प्राप्त है—शरीर वाले को शरीर प्राप्त है, योग्यता वाले को योग्यता प्राप्त है, वस्तु वाले को वस्तु प्राप्त है। जो जिसको प्राप्त है, वह उसका दुरुपयोग न करे। बस, इतनी-सी बात है। जब हम प्राप्त का दुरुपयोग नहीं करते, तो आप जानते हैं? एक बड़ा भारी सत्य है। और वह सत्य यह है कि जो प्राप्त का दुरुपयोग नहीं करता, उसको आवश्यक वस्तु स्वतः प्राप्त होती है।

परन्तु आज इस कर्त्तव्य-विज्ञान पर भरोसा नहीं रहा। न तो मुझे मजदूर का दिखाई देता है भाई, न महाजन का दिखाई देता है। और व्यक्तिगत रूप से मजदूर में भी है और महाजन में भी है। सभी में है। लेकिन सामूहिक रूप से नहीं दिखाई देता। क्यों? यह भरोसा अगर होता, तो हम चौबीस घण्टे में आठ ही घण्टे काम करेंगे—यह बात मजदूर कभी नहीं मानता। उसे यह बात मालूम होती कि यह मेरा जो श्रम है, शारीरिक श्रम जो मुझे प्राप्त है, और पढ़े-लिखे को मालूम होती कि बौद्धिक श्रम जो मुझे प्राप्त है, उस श्रम से ही मेरी आवश्यकता पूरी होगी। पर ऐसा नहीं मानता, बड़ा भयभीत होता है।

एक बार एक मित्र के इन्जीनियर हमसे मिलने आये। हमने पूछा—आपको क्या तनुख्वाह मिलती है? उन्होंने कहा—बारह सौ रुपया मिलता है। हमने कहा—हमें एक बात बताओ दोस्त, वह बेपढ़ा-लिखा सेठ धन कमाता है कि तुम? तो उसे

कहना पड़ा कि हम। तो मालिक तुम कि वह ? बोले, मालिक वह। हमने कहा—वह कैसे ? कि वह हमको निकाल सकते हैं। तो हमने कहा कि अगर तुम अपनी योग्यता में विश्वास करो (पढ़े-लिखे लोग)—देखिये, सब कहते हैं कि पूँजीपति ने समाज को बिगाड़ दिया। अगर मुझसे कोई पूछे, तो सबसे ज्यादा तो मैंने बिगाड़ दिया। क्योंकि जब वीतराग पुरुष नहीं रहते, तो पढ़े-लिखे लोग बिगड़ जाते है। उसके बाद नम्बर आता है, पढ़े-लिखों ने बिगाड़ दिया। क्योंकि जब पढ़े-लिखे लोग बिगड़ते हैं, तो राष्ट्र बिगड़ आता है। और जब राष्ट्र बिगड़ता है, तो सारी जनता बिगड़ जाती है। तो सबसे बड़ा दोषी तो है—मैं, मैं बस, दुष्टता अपनी मानता हूँ।

तो मैंने उनसे कहा कि अगर पढ़े-लिखे लोग यह सोचें कि भाई देखो, इस सेठ ने अमुक मैंनेजर के साथ अन्याय किया, तो हम नहीं काम करने जायेंगे। तो क्या सेठ बेचारा तुमको निकालेगा ? और अगर तुम ठीक-सही काम करो, सही काम इस मायने में कि जो योग्यता तुम्हें प्राप्त है, उस योग्यता के आधार पर न सेठ के अधिकार का अपहरण होने दो, न मजदूर के अधिकार का अपहरण होने दो, तो कभी झगड़ा पैदा होगा ? बोले, कभी नहीं। लेकिन तुम करते क्या हो ? कि अपने लालच में सेठ की उस नीति को मान लेते हो, जो नहीं माननी चाहिये।

और यही दोष हमारे नेता में आया। हमारे नेता ने मजदूर की उस नीति को मान लिया, जिसे नहीं मानना चाहिए। क्यों मान लिया ? इसलिये नहीं कि उन्हें मजदूर के साथ कोई सहानुभूति है। इसलिए कि हर मजदूर के चन्दा

में-से जो हिस्सा मिले, वह अपना धन,और पूँजीपति से जो मिले चुपचाप, वह अपना धन। तो दोहरा धन बनाकर हर एक व्यक्ति ने धन के सम्पादन का प्रयास किया और नाम लिया सुधार का। जरा सोचिए, निन्दा करते है धनी की। किस लिये ? बोले, उसके पास धन है। और चाहते क्या हैं ? बोले, धन। तो जिस धन ने आज किसी को भी पागल बनाया, क्या वह धन आपको पागल नहीं बनायेगा ? तो भाई, इसका नाम सुधार नहीं है। इसका नाम कर्त्तव्य-विज्ञान नहीं है।

कर्त्तव्य-विज्ञान का अर्थ केवल इतना है कि अगर आप सचमुच मानव हैं, तो जो वस्तु आपको प्राप्त है—शरीर भी एक वस्तु है मेरे भाई, इन्द्रियाँ भी एक वस्तु हैं, बुद्धि भी एक वस्तु है, मन भी एक वस्तु है, प्राण भी एक वस्तु है। तो जो वस्तु आपको प्राप्त है, उसका सदुपयोग कीजिये। आज हमसे यह भी नहीं हो पाता कि हम अपने मन से किसी को बुरा न समझें ! आज हमसे यह भी नहीं हो पाता कि हम शरीर को संयमी बना सकें। आज हमसे यह भी नहीं हो पाता कि हम वुद्धि को मन के आधीन न रखें। तो जो चीज आपको प्राप्त है, उसी का अब आप सदुपयोग नहीं कर पाते, तो जो आगे प्राप्त होगी, उसका आप सदुपयोग कर पायेंगे ? कदापि नहीं कर पायेंगे।

इसलिए मानव सेवा संघ की नीति में यह बात स्वीकार कर ली गई कि प्रत्येक मानव मानव है। और मानव होने के नाते उतना ही महान् है, जितना कोई भी मानव हो सकता है। एक मिल-ओनर जितना मानव हो सकता है, एक मजदूर भी उतना ही मानव हो सकता है। एक आँखों का अन्धा जितना मानव हो सकता है, एक आँखों वाला

उतना ही मानव हो सकता है। कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि परिस्थिति भेद होने से, योग्यता भेद होने से हम मानव में भेद हो जाय—इस बात को मानव सेवा संघ नहीं मानता।

तो किस बात को मानता है ? कि जब मानव होने के नाते हम सब एक हैं, तो हमारा-आपका वास्तविक जीवन एक है। और वह वास्तविक जीवन कब मिलेगा ? जब कर्त्तव्य-विज्ञान, योग-विज्ञान, अध्यात्म-बिज्ञान, आस्तिक-विज्ञान और हमारे जीवन में एकता हो।

तो मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार कर्त्तव्य-विज्ञान का अर्थ है—दूसरे के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग। अब इस मन्त्र को आप मजदूर और महाजन में लगा लीजिए, दो वर्गों में लगा लीजिए, दो देशों में लगा लीजिए, दो सम्बन्धित में लगा लीजिए। अगर सभी स्तरों पर इस मन्त्र से सफलता न हो जाय, तो आप जो चाहें सो कीजिए।

फिर क्या होगा ? कर्त्तव्य-विज्ञान के आधार पर कैसे समाज का निर्माण होगा ? भाई, उसे समाज का निर्माण होगा कि जिस समाज को न तो रानी के पेट से निकले हुए राजा की आवश्यकता होगी और न जनता के पेट से निकले हुए प्राइम मिनिस्टर की आवश्यकता होगी। यानी राष्ट्र की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। कब ? जब जीवन में कर्त्तव्य-विज्ञान होगा तब।

और कर्त्तव्य-विज्ञान किसके जीवन में होगा ? मानव सेवा संघ का इस सम्बन्ध में ऐसा निर्णय है कि उपदेश दूसरे को नहीं देना है। यह तो हमको और आपको स्वय ही मानना

होगा। यानी हमको मानना होगा कि हमारे जीवन में कर्त्तव्य-विज्ञान हो। आपको मानना होगा कि हमारे जीवन में कर्त्तव्य-विज्ञान हो। तो अपने सुधार से पूर्व जो दूसरे के सुधार की बात कही जाती है, यह सुधारवाद एक पेशा है। और मैं भी उसी पेशे में हूँ। क्योंकि मैं भी तो वही न ! कर रहा हूँ। लेकिन यह कहता हूँ कि अपना सुधार जो नहीं कर सकता, वह किसी का सुधार नहीं कर सकता, सुधार के नाम पर अपनी कामनाओं की पूर्ति कर सकता है।

कल मैं विद्यार्थियों से बात कर रहा था। मैंने कहा कि तुम किसको बढ़ा आदमी मानते हो ? तो लोगों ने जवाहरलाल जी का नाम लिया और राजेन्द्र बाबू का नाम लिया। बड़े-बड़े लोगों का नाम लिया, महात्मा गाँधी का नाम लिया, तिलक का लिया। तो मैंने कहा कि सेवा का अन्त त्याग में होना चाहिए कि भोग में ? तो वहीं छोटे-छोटे बच्चे कहते हैं—त्याग में। तो हमने कहा कि इन लोगों में-से कुछ लोगों ने त्याग में अन्त किया कि भोग में बोले कि भोग में। तो सेवा हुई कि पुण्य-कर्म ? तो बच्चों को कहना पड़ा कि पुण्य-कर्म।

तो आज-कल हम लोग साधन करते समय इस बात को भूल जाते हैं कि हम मानव हैं। और करते क्या हैं ? कि साधन सीखने को साधन मानते हैं। साधन सिखाने को साधन मानते हैं और असाधन का त्याग करके साधन की अभिव्यक्ति नहीं होने देते। अब आप जरा ध्यान दीजिये। और गम्भीरता से इस बात पर विचार कीजिए कि अपने अधिकार का त्याग क्या श्रम-साध्य है या विचार-सिद्ध !

अगर आप ने यह विचार कर लिया कि चाहे पति-पत्नी के बीच की बात हो और चाहे पिता पुत्र के बीच की बात हो और चाहे प्रजा और राष्ट्र के बीच की बात हो, चाहे दो वर्गों के बीच की बात हो, चाहे दो देशों के बीच की बात हो— अगर आज का मानव इस बात को मान लेता है कि मुझे अपने अधिकार का त्याग करना है। सच मानिये, विद्यमान राग तो दूसरे के अधिकार की रक्षा करने से नाश होगा। लेकिन अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होगी। यह बड़ा भारी सत्य है। विद्यमान राग दूसरे के अधिकार की रक्षा से नाश हो जाता है और अपने अधिकार का त्याग करते ही नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। और जब नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती, तो राग-रहित होने पर जो प्रवृत्ति होती है, उसमें कर्त्तृत्व का अभिमान नहीं होता, उसमें फल की आसक्ति नहीं होती।

तो आज हमसे भूल क्या हुई? कर्म-योग को खूब सीखा और खूब सिखाया, किन्तु किया नहीं। क्यों नहीं किया? कि अपने अधिकार का त्याग आज अभीष्ट नहीं है। दूसरे के अधिकार की रक्षा में आज आकुलता नहीं है, व्याकुलता नहीं है। व्याकुलता तो ऐसी होनी चाहिए कि हाय! हाय!! हम अगर दूसरे के अधिकार की रक्षा नहीं करेंगे, तो हमारा विद्यमान राग नाश ही नहीं होगा। अगर यह भावना हम और आप स्वीकार करलें, तो हर एक भाई प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा राग-रहित हो जाय।

आज एक बड़े समझदार साधक हमारे अभिन्न हृदय हमसे कहते हैं कि यह तो एक बन्धन होगया, बड़ी सजगता होगई!

जरा सोचो तो सही, दूसरे के अधिकार की रक्षा बन्धन है ? यह महान् स्वाधीनता है। और अपने अधिकार का त्याग कोई श्रम है ? लेश-मात्र भी श्रम नहीं है।

तो जो आप कर सकते हैं अथवा जो आप करते हैं, उसमें क्या इस बात का प्रकाश है कि हम दूसरे के अधिकार की रक्षा कर रहे हैं ? क्या ऐसा है ? अच्छा, और क्या अपने अपने अधिकार का त्याग कर दिया है ? यदि आपने अपने अधिकार का त्याग कर दिया हैं और प्रवृत्ति दूसरे के अधिकार की रक्षा में है, तो प्रवृत्ति भी राग रहित होने का साधन और सरकार ! निवृत्ति ? तो बोले, निवृत्ति भी राग-रहित होने का साधन। और जहाँ राग-रहित भूमि प्राप्त हुई कि योगरूपी वृक्ष आ गया अपने आप। यह बड़ा अलौकिक वृक्ष है, सींचना नहीं पड़ता। और जहाँ योगरूपी वृक्ष आया कि उसमें तत्त्व-ज्ञान रूपी फल लग गया अपने आप। और जहाँ तत्त्व-ज्ञान रूपी फल लगा कि उसमें प्रेम का रस परिपूर्ण है।

तो साधन का आरम्भ कहाँ से हुआ भाई ? कर्त्तव्य-विज्ञान से। अन्त कहाँ हुआ ? आस्तिक विज्ञान में। और मध्य में क्या है ? योग-विज्ञान, आध्यात्म विज्ञान। अब जरा ध्यान दीजिए। कर्त्तव्य-विज्ञान का फल है सुन्दर समाज का निर्माण। योग-विज्ञान का फल है—सामर्थ्य सम्पादन। अध्यात्म-विज्ञान का फल है—स्वाधीनता और अमरत्व। आस्तिक विज्ञान का फल है—अगाध-अनन्त रस। जहाँ ये समस्त विज्ञान एक हो जाते हैं, उसका नाम मानव सेवा संघ की भाषा में 'मानवता' है। और उस मानवता में ही पूर्णता निहित है।

क्यों ? मानव की माँग सभी को। और मानव की ? बोले अपनी तो कोई माँग ही नहीं। आप कहेंगे, मानव की माँग सभी को क्यों हो गई ? इसलिए होगई कि मानव-जीवन जगत् के लिए उपयोगी है। यह उसकी कसौटी है। और मानव-जीवन अपने लिए भी उपयोगी है और मानव-जीवन प्रभु के लिए भी उपयोगी है।

तो मानव-सेवा-संघ उसी को 'मानव' मानता है कि जिसका जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध हो और। वह हो सकता है। क्यों हो सकता है। कि उस जीवन के लिए हमें 'पर' की ओर नहीं देखना है।

देखिए, मानवता का ह्रास तभी होता है, जब मानव-जीवन पाकर चाहें उसकी कितनी हो भयंकर परिस्थिति हो, कितनी ही प्रतिकूल परिस्थिति हो। जब मानव होकर यह सोचता है कि मेरे सुख का कारण कोई और हो सकता है अथवा मेरे दुःख का करण कोई और होसकता है – यही सबसे बड़ी मानवता है। और यह मानव के लिए बड़े ही कलक की बात है कि मानव-जीवन पाकर कोई यह सोचे कि मुझे किसी और से सुख मिलेगा, और मुझे किसी और ने दुःख दिया है। भाई, यह बात हम लोग जब तक सोचते रहेंगे, सच पूछिये मानव-जीवन का महत्व नहीं जान सकते। और जब मानव-जीवन का महत्त्व ही नहीं जान सकते, तब मैं आपसे पूछता हूँ—साधन का प्रश्न क्या ब्रह्म में पैदा हुआ ? साधन का प्रश्न क्या ब्रह्म में है ? या साधन का प्रश्न का जगत् में है ?

न जगत् में साधन का प्रश्न है, न ब्रह्म में साधन का प्रश्न है। साधन का प्रश्न है मानव में। इसलिए साधन का उत्तर-

दायित्व मानव-मात्र पर है। और वह साधन हमें तभी प्राप्त हो सकता है, जब हम इस बात को स्वीकार करलें कि कर्त्तव्य-विज्ञान के द्वारा हम सुन्दर-समाज का निर्माण करेंगे, योग-विज्ञानके द्वारा हम सामर्थ्य-सम्पन्न हो जायेंगे, अध्यात्म-विज्ञान के द्वारा हम अमर हो जायेंगे और आस्तिक-विज्ञान के द्वारा हम अगाध-अनन्त रस की उपलब्धि करेंगे। यह जिसका उद्देश्य है और जो स्वाधीनतापूर्वक इस उद्देश्य को पूरा कर सकता है, मेरे विचार से उसी का नाम 'मानव' है और उसी की माँग जगत् को भी है, प्रभु को भी है।



३२

साधक का परम पुरुषार्थ है—अपने जानते अपनी वर्त्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखना। उसका सबसे सुन्दर उपाय है—परदोष-दर्शन न करना। न हम किसी को बुरा समझें और न किसी की बुराई सुनें।

सबसे बड़ी सेवा है– पराये दुःख से करुणित होना तथा दूसरों के सुख से प्रसन्न होना।

कर्त्तव्यपरायणता फैलती है कर्त्तव्य पालन से, न कि उपदेश आदेश या सन्देश से।

सत्संग का अर्थ है—मौजूद का संग। उसमें श्रम, काल अपेक्षित नहीं है। जो नित्य विद्यमान है, उसकी विद्यमानता का अनुभव वर्तमान की उपलब्धि है।

'करने वाले चिन्तन' से 'होने वाला चिन्तन' कुछ क्षणों के लिए दब भले ही जाय, मिटता नहीं है। 'होने वाला व्यर्थ चिन्तन' "होने वाली मधुर स्मृति" के उदय होने पर मिटता है।

३२

अ

प्रवचन :

किसी दूसरे के द्वारा बताया हुआ जो दोष है, उसका निवारण हो सके अथवा न हो सके, किन्तु अपने जाने हुए दोष के त्याग में सभी साधक सर्वदा स्वाधीन हैं। दोष का ज्ञान और दोष-जनित वेदना प्राकृतिक नियमों के अनुसार तो युगपत् है। क्यों ? कोई भी अपने को दोषी बना कर रखना पसन्द नहीं करता। यही कारण है कि जब कोई किसी को बुरा समझता है, तो उसे अच्छा नहीं लगता। किन्तु जब वह स्वयं अपने दोष को जानता हैं, तब उसे अपने सम्बन्ध में विचार करने की सामर्थ्य आती है; और अपने पर अपने द्वारा न्याय करने में तत्पर होता है। निर्दोषता सुरक्षित रखने के लिए सर्वोत्कष्ट उपाय है—अपने प्रति न्याय करना। जब हम अपने प्रति न्याय करना आरम्भ कर देते हैं, तब वर्तमान निर्दोषता स्वत: सुरक्षित होजाती है।

आप विचार करें—परस्पर में वैर-भाव क्यों होता है ? जीवन में अशुद्ध संकल्प क्यों उत्पन्न होते हैं ? आपको स्पष्ट ज्ञान होगा कि जब तक हम् किसी को बुरा नहीं समझते, तब तक वैर-भाव की उत्पत्ति नहीं। और जब वैर-भाव की

उत्पत्ति ही नहीं होती, निर्वैरता अपने आप आती है। जिसके जीवन में निर्वैरता है, उसी के जीवन में निर्भयता है। और जब निर्भयता आती है, तो समता भी आ जाती है। और जब समता आजाती है, तब मुदिता अर्थात् अखण्ड प्रसन्नता स्वतः रहने लगती है। अब आप विचार करें—वैर भाव से रहित होने में कितना लाभ है! परम लाभ है।

वैर-भाव का जो सूक्ष्मरूप है, वह क्या है? दूसरों को बुरा समझना, गैर मानना, उनके और अपने बीच बीच में स्वरूप की एकता स्वीकार न करना। इन्हीं सब बातों से वैर-भाव पोषित होता है। जब साधक पर-दोष दर्शन से रहित हो जाता है, तब उसे अपने दोषों का ज्ञान होता है। दोष का ज्ञान जिस काल में होता है, उस काल में वह निर्दोष होता है, अर्थात् निर्दोषता में ही दोष का ज्ञान होता है। उसे यह व्यथा तो होती है कि हाय! मुझसे भूल हुई! पर उसे यह अनुभव नहीं होता कि मैं भूल कर रहा हूँ।

दोष किया जाता है, दोष सदैव नहीं रहता। यह नियम है कि 'करने' का अन्त होता है। उसके परिणाम का भी कालान्तर में नाश होता है। किये हुए का परिणाम सदैव नहीं रहता, और न करना सदैव रहता है। इससे क्या सिद्ध हुआ? कि दोष सदैव नहीं रहता। और उसका जो फल है, वह भी नाश हो जाता है। यह है प्राकृतिक विधान।

अब केवल इतना ही दायित्व है अपने पर कि हम अपने जानते अपनी निर्दोषता सुरक्षित रखें। उसका सबसे सुन्दर उपाय है—पर दोष दर्शन न करना। न हम किसी को बुरा समझें और न किसी की बुराई सुनें। तो जो दूसरों की बुराई

से अपने को बचा लेता है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्दोष होने के लिए तत्पर हो जाता है।

आप देखिये कि हमें जो 'दोष, को दोष जानने की शक्ति मिली है, उसका उपयोग तो है जीवन में। उसका उपयोग है अपने पर। और प्रत्येक भाई और प्रत्येक बहन को यह अनुभव होगा कि उसमें क्षमा करने की शक्ति भी है। यदि क्षमा करने की शक्ति न होती, तो स्वयं बुराई करने पर अपने को क्यों सन्तुष्ट रखता है? यही न! कारण है कि वह अपने को क्षमा कर लेता है। सोचने लगता है—'क्या बतायें! परिस्थिति ऐसी आगई, जिससे मुझे क्रोध आ गया। मुझसे यह भूल हुई।' तो उस भूल का कारण परिस्थिति को मान लेता है। यह क्या है? यह बड़े ही सूक्ष्म ढंग से अपने को क्षमा करना है।

परिस्थिति तो साधन-सामग्री है। और दोष भूल-जनित है। तो अपने दोष का कारण परिस्थिति को मान लेना, यह अपने को क्षमा करना है। और आप जानते हैं, अपना विकास अपने को क्षमा करने से नहीं होता। अपना विकास होता है अपने प्रति अपने ही द्वारा न्याय करने से। यह जो क्षमा का प्रयोग है, वह 'पर' के लिये है। और यह न्याय की जो प्रणाली है, वह 'अपने' लिये है।

तो जब मानव अपने प्रति न्याय करने लगता है, तब वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्दोषता को सुरक्षित रखता है। यह बात बहुत गम्भीरता से विचारणीय है कि निर्दोषता मौजूद है। हम किये हुए दोषों से उसे ढकते रहते हैं। निर्दोषता कहीं से आयेगी, उसकी उत्पत्ति होगी—ऐसी बात नहीं है। निर्दोषता तो आपके जीवन में है। क्यों? जिसने आपका निर्माण किया

है, वह निर्दोष है। निर्दोष का किया हुआ निर्माण दोषयुक्त नहीं हो सकता। तो आप कहेंगे कि दोष की उत्पत्ति क्यों हुई ? अपनी भूल से।

भूल होती है जाने हुये की। बिना जाने की भूल नहीं होती। तो अपनी भूल क्या है ? हमने अपने सम्बन्ध में विचार करना बन्द कर दिया।

मानव सेवा संघ की प्रणाली के अनुसार प्रत्येक भाई-बहन को जगने के बाद, सोने के पहले, कार्य के आदि और अन्त में शान्त होना है। शान्त होने से जो हम कर चुके हैं, उसकी स्मृति आती है। उसके आने से हम अपनी वस्तु, स्थिति से परिचित होते हैं। और जब साधक अपनी दशा से भली-भाँति परिचित हो जाता है, तब उसमें एक चेतना आती है, जागृति आती है। वह विचार करने लगता है कि मैंने ऐसा क्यों किया ! मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था ! बस, जब उसने यह स्वीकार किया कि मुझे यह नहीं करना चाहिए था, तो इसका अर्थ यह हो जाता है कि 'अब कभी नहीं करूंगा।' इस प्रकार दैनिक व्यक्तिगत सत्संग के द्वारा हम अपना निरीक्षण कर सकते हैं। और निरीक्षण के आधार पर जो भूल हो चुकी है, उसके न दोहराने का निर्णय कर सकते हैं।

जब आप किसी दूसरे से अपने कर्त्तव्य के बारे में पूछते हैं, तब आप सचमुच अपनी ओर देखते नहीं हैं। मेरा यह अनुभव है कि अपने कर्त्तव्य का ज्ञान अपने में मौजूद है और उसके पालन की सामर्थ्य भी है। यदि ऐसा न होता, तो अपने पर कोई दायित्व नहीं हो सकता था। जिस बुराई को हम बुराई करके नहीं जानते, भला, उसके त्याग का प्रश्न ही कैसे

आयेगा ! और जिसे नहीं कर सकते, वह हमारा कर्त्तव्य ही कैसे होगा !

यो यह बात प्रत्येक भाई बहन को अपने जीवन में से सदा के लिए निकाल देना चाहिए कि हमारा कर्त्तव्य कोई दूसरा बतायेगा। हाँ, यह बात हो सकती है कि हम जिन पर श्रद्धा रखते हैं, उनका परामर्श ले सकते हैं, और अपने निर्णीत कर्त्तव्य का समर्थन पा सकते हैं। आज्ञा नहीं, ज्ञान नहीं, केवल समर्थन कि हाँ, ठीक बात है।

प्राचीन प्रथा के अनुसार यही प्रणाली थी कि जब कोई साधक किसी से परामर्श लेता, तो वह स्वयं अपनी बात सामने रख देता—यह मेरी दशा है। और वह बड़े संकेत से कहता कि भाई, तुम क्या कर सकते हो ? कि मैं यह कर सकता हूँ। अगर यह ठीक है, तो समर्थन मिलता। और समर्थन को लेकर वह अपने कर्त्तव्य पर स्वयं आरूढ़ हो जाता। क्यों ? क्योंकि वह अपना जाना हुआ था, यों। उससे स्वयं क्रमिक विकास होता। जैसे-जैसे कर्त्तव्य पालन करता जाता, वैसे वैसे कर्त्तव्य का ज्ञान भी बढ़ता जाता। और एक समय वह आ जाता कि वह, जो करना चाहिए था, उसके अन्त में उसे पूरा करके, 'करने' के राग से रहित हो जाता।

सच पूछिये, तो क्या करना हैं, 'करने' के राग से रहित होना है और क्या करना है ! करने के राग से रहित होने पर तादात्म्य नहीं रहेगा। न वस्तुओं से, न योग्यता से, न सामर्थ्य से, तादात्म्य ही नहीं रहता अर्थात् असंगता आ जायेगी। और असंगता के आते ही निर्वासना, निर्भयता, निर्वैरता, समता और मुदिता—ये दिव्य गुण स्वतः प्राप्त होते हैं। अब

आप सोचिये कि 'करने' का राग रहते हुए असंगता सम्भव ही नहीं है। और असंगता के बिना सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है।

अब प्रश्न यह सामने आता है कि यदि हम अपनें कर्त्तव्य से परिचित हैं, तो अकर्त्तव्य की उत्पत्ति क्यों होती है ? मेरे जानते, उस ज्ञान का जिससे हम कर्त्तव्य को जानते हैं, हैं, अनादर करने से अकर्त्तव्य की उत्पत्ति होती है। न जानने से अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती। जैसे, कल्पना करो, आपके जितने सम्बन्धी हैं, वे सब किसी-न-किसी रूप में आपको अपना मानते हैं, और आप उन्हें अपना मानते हैं। किन्तु क्या कोई ऐसा सम्बन्धी है जो केवल आप ही का हो ? आपकी पत्नी किसी की बहन भी है, किसी की बेटी भी है, किसी की माँ भी है। अनेक सम्बन्ध प्रत्येक व्यक्ति के साथ हैं। आप यह सोचें कि ये सारे सम्बन्ध तोड़कर केवल हमारे ही सम्बन्ध को माने, तो क्या यह सम्भव होगा ? कभी नहीं होगा।

हाँ, एक बात सम्भव होगी कि यदि आप चाहें तो सभी सम्बन्धों को तोड़कर किसी 'एक' में और उस 'एक' में जो सभी का है—उससे नहीं, जो किसी का हो और किसी का न हो। जो सभी का 'एक' है, वह तो सर्व का आश्रय न ! होगा, सर्व का प्रकाशक न ! होगा, सर्व का ज्ञाता न ! होगा। हाँ, आप स्वयं सभी सम्बन्ध तोड़कर 'उससे सम्बन्ध जोड़ सकते हैं। और जब उससे' सम्बन्ध जोड़ेंगे, तो सभी की सेवा का दायित्व आप आ जायेगा। क्योंकि सभी उसके है। जिसको आपने अपना स्वीकार किया, उसके सभी है। तो 'उसके' नाते सभी की सेवा आप कर सकते हैं। किन्तु किसी और को अपना न मानने से किसी से सुख की आशा नहीं कर सकते।

अब आप विचार करें कि जब आपने किसी 'एक' के नाते सभी की सेवा की और सभी की ममता तोड़ने से अपने जीवन में से सुख की आशा का त्याग किया, तब आपका चित्र क्या होगा ? जो मानव किसी से सुख की आशा नहीं करता और सभी की सेवा करता है, उसे क्या प्राप्त होता है ? सुख की आशा न करने से उसके जीवन में क्षोभ नहीं होता, क्रोध नहीं होता, राग नहीं रहता। क्षोभ और क्रोध के न रहने से स्मृति आती है। वह जानता है कि मुझे क्या करना चाहिए ? वह जानता है कि 'मैं' क्या हूँ ? वह जानता है कि मेरा कौन है ? इसलिए क्रोध-रहित होने पर स्मृति स्वत: जागृत होती है।

आज हमने इस मानव-जीवन के विज्ञान को भुला दिया है। हम लोग मानने लगे हैं कि मानो क्रोध प्राकृतिक दोष है। प्राकृतिक दोष नहीं है, यह अपना बनाया हुआ दोष है। और यह दोष तब आता है जीवन में, जब हम किसी से सुख की आशा करते हैं। और हम दूसरों से सुख की आशा तब करते हैं, जब अपने कर्त्तव्य से च्युत होते हैं। अथवा यों कहो कि जब हम अपने प्रेमास्पद को भूलते हैं। जो अपना नहीं है, उसे जब अपना मानते हैं, तब सुख की आशा करते हैं। जो हमारा-आपका सभी का अपना है, 'उसको' जब आप अपना मानते हैं, तब आप किसी से सुख की आशा नहीं करते। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट बोध हो जाता है कि क्रोध प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु अपनी भूल का परिणाम है।

आप सोचिए तो सही, जिससे आप सुख की आशा करते हैं, क्या वह स्वयं दु:खी नहीं है ? किसी निर्धन से कोई धन की आशा करे, किसी निर्बल से कोई बल की आशा करे, तो

वह आशा भ्रमात्मक नहीं है ? आप विचार करें, गम्भीरता से विचार करें। आंशिक सुख जीवन में है, सर्वांश में कोई सुखी नहीं है। आप स्वयं भी अगर अपने सम्बन्ध में सोचेंगे तो आप सर्वांश में सुखी नहीं हैं। इसीलिए आप किसी के दुःख को दूर नहीं कर सकते। यह मानव मिथ्या अभिमान कर लेता है कि मैं तुम्हारा दुःख दूर कर दूँगा। यह बिल्कुल मिथ्या अभिमान है। क्यों ? क्या तुम सर्वांश में सुखी हो, जो दुःख दूर कर दोगे ?

हाँ, एक बात कर सकते हो, आंशिक सुख को बांट सकते हो, पराये दुःख से करुणित हो सकते हो, दूसरे के सुख से प्रसन्न हो सकते हो। यही सेवा है। तो सेवा कर सकते हैं। आप किसी का दुःख दूर नहीं कर सकते। जब आप किसी का दुःख दूर नहीं कर सकते, तब आप दूसरों से क्यों आशा करते हैं कि उसके द्वारा आपको सुख मिले ? यह आशा करना बड़ी भूल है। और इसी भूल का परिणाम यह होता है कि परस्पर में राग-द्वेष हो जाता है।

हम सोचने लगते हैं कि उन्होंने वह हमारे साथ नहीं किया, जो उन्हें करना चाहिए था। हम यह भूल जाते हैं कि भाई, क्या वे कर भी सकते थे, जो हम चाहते हैं ? कल्पना करो, मेरे साथ कई मित्र रहते हैं। मैं यह सोचलूं कि मेरे साथ मेरा जो मित्र रहता है, वह किसी और को अपना न माने। क्या मेरे अधिकार की बात है ? क्या यह कभी सम्भव है ? कभी सम्भव नहीं है। जिसे आप अपना कहते हैं, वह औरों का भी है भाई ! जब वह औरों का भी है, तो आप उसके द्वारा सभी के अधिकारों को सुरक्षित क्यों नहीं होने

देते ? क्यों नहीं सभी को प्यार करने देते ? क्यों नहीं सभी की सेवा करने देते ? आप यह क्यों सोचते हैं कि जिसको हम नहीं प्यार करते, उसको वह भी प्यार न करे ? जिसे हम नहीं मानते, उसे वह भी न माने ? यह आप सोच ही कैसे पाते हैं ? आप कहेंगे कि हम जो कुछ करते हैं, वह उसके हित के लिए करते हैं।

विचार तो कीजिये, हित किसमें है ? विद्रोह में हित है ? क्रोध में हित है ? द्वेष में हित है ? वैर-भाव में हित है ? कभी नहीं। हित प्यार में है, हित उदारता में है, हित त्याग में है। त्याग आप करते नहीं क्योंकि त्याग जब आप करेंगे, तब आपके पास अपना करके कुछ नहीं रह जायेगा। यह जो आप अपने में गुणों का अभिमान करते हैं, यह एक प्रकार का राग ही है। क्योंकि गुण हैं प्राकृतिक और आप मान लेते हैं अपने। दोष हैं भूल-जनित, और आप मान लेते हैं प्राकृतिक।

तो सत्संग के प्रकाश में ऐसा अनुभव होता है कि हमें कभी-भी किसी भी परिस्थिति में यह अधिकार ही नहीं है कि हम यह बात स्वीकार करें कि दूसरे लोग वह करें, जो हम चाहते हैं। यह अधिकार ही नहीं है। दूसरे लोग जो चाहें सो करें, पर हम उनके साथ वह करें, जो हमें करना चाहिये। हमारे कर्त्तव्य से उनमें कर्त्तव्य परायणता आयेगी। हमारे उपदेश व आदेश से वे कर्त्तव्यनिष्ठ होंगे—सो नहीं होंगे। न हमारे आग्रह से होंगे, न हमारे दबाब से होंगे।

अगर समाज में कर्त्तव्य परायणता फैलती है तो कर्त्तव्य-पालन से फैलती है, उपदेश-आदेश और सन्देश से नहीं फैलती। यह बात मैं बहुत दिनों के बाद समझ सका। इसलिये मेरा

यह निवेदन है कि आप जब कभी किसी के सम्बन्ध में विचार करें तो यह विचार न करें कि इन्होंने क्या भूल की ! यह विचार करें कि हमें इनके साथ क्या और करना है !—इसी पर विचार करें। जिस समय आप इसे सामने रखकर सोचेंगे, तो आपको अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होगा। और जब आप उसका पालन करेंगे, तब आपकी कर्त्तव्य परायणता से समाज में कर्त्तव्य परायणता आयेगी।

किसी और प्रकार से हम कर्त्तव्यपरायणता का प्रचार कर सकते हैं—ऐसा मेरा विश्वास नहीं है और अनुभव भी नहीं है। कर्त्तव्य निष्ठ होने से ही कर्त्तव्यपरायणता फैलती है—समझाने से नहीं, उपदेश करने से नहीं, शासन करने से नहीं, भय देने से नहीं, प्रलोभन देने से नहीं। कोई भी किसी को कर्त्तव्य निष्ठ नहीं बना पाता ?

मुझे ऐसी घटनायें मालूम हैं, जिनमें साधक ने जो कहा, वही पूरा हो गया। मैंने सोचा कि अब इनमें प्रभु-विश्वास, कर्त्तव्य-विश्वास, साधन-विश्वास आ जायेगा। आप सच मानिये, नहीं आया। तो किसी प्रलोभन से हम किसी को कर्त्तव्य निष्ठ बना लेंगे, वह बड़ी भूल है। किसी प्रकार का भय देकर किसी को कर्त्तव्यनिष्ठ बना लेंगे, यह उससे बड़ी भूल है। इसलिये भाई ! प्रलोभन देकर किसी पर शासन मत करो, भय देकर किसी पर शासन मत करो अपितु अपने कर्त्तव्य द्वारा उसके अधिकार की रक्षा करो।

उसे अपने ढंग से देखने दो, सोचने दो, समझने दो, करने दो। उसमें भी 'वह' मौजूद है, 'जो' आप में है। बोले, क्या ? विवेक-रहित कोई भाई-बहन नहीं हैं। विवेक ही वास्तव में

गुरु-तत्व है। कोई व्यक्ति किसी का गुरु है—इसके समान कोई भूल ही नहीं है। कोई भी व्यक्ति किसी का सुधारक है—इसके समान कोई भूल नहीं है। मानव का अपना विवेक ही उसका अपना सुधारक है, वही उसका गुरु है, वही उसका नेता है, वही उसका शासक है। जिसके जीवन पर विवेक का गुरुत्व, विवेक का नेतृत्व, विवेक का शासन नहीं रहता उसके जीवन में कभी भी निर्दोषता नहीं आती।

इसलिये भाई, मानव सेवा संघ की यह अमर वाणी है कि मानव-मात्र सत्-पथ का अधिकारी है, चल सकता है।

आप यह न सोचें कि आपकी उदारता से कोई आगे बढ़ेगा। अपितु यह विचार करें कि जो आपमें उदारता उदय हुई है, उससे आपका हित होगा। वह आपके लिए कल्याणकारी होगी।

३२

ब

अगर कोई भूल कर रहा है, तो इस बात से क्षुभित न हों कि वह भूल क्यों कर रहा है! अपितु इस बात से दुःखित हों कि भूल न करता तो अच्छा था! भूल न करे, तो बड़ा अच्छा हो! पर उसे यह न मालूम हो जाय कि आप इस बात को जानते हैं कि वह भूल कर रहा है। यह आपकी मूक-सेवा होनी चाहिये। मूक-सेवा के समान कोई सेवा नहीं है।

मूक-सेवा का अर्थ क्या है? किसी की अवनति को देखकर पीड़ित होना। किन्तु आप-हम पीड़ित कब होते हैं? जब देखते हैं कि हमारे अधिकार का अपहरण हुआ है, हमारा स्थान सुरक्षित नहीं रहा, तब हम पीड़ित होते हैं। हम इस बात को लेकर पीड़ित नहीं होते कि कोई बेचारा भूल क्यों कर रहा है! भूल न करता तो अच्छा होता! यही तो क्षमा-शीलता है।

क्या आप समझते हैं कि क्षमा माँगने पर क्षमा करना चाहिये? नहीं, नहीं, अपने प्रति होने वाली बुराई के काल में ही क्षमा करना चाहिये। जब कोई हमारे साथ बुराई कर रहा है, तभी हमें क्षमा करना चाहिए। क्यों? उसने स्वयं अपने को बुरा बनाया है, इसलिये बुराई कर रहा है। और

अपने को जो बुरा बनाया है, वह प्रमाद से बनाया है। स्वभाव से वह बुरा नहीं है, स्वरूप से बुरा नहीं है। प्रमाद मिट सकता है, सदैव नहीं रहता। इसलिये वह भला हो जायेगा, बुराई नहीं करेगा। तो हमें दूसरों के सम्बन्ध में यही सोचना है कि कोई बुरा न रहे, कोई बुरा न रहे! और उसके लिए सबसे सुन्दर उपाय है कि हम किसी को बुरा न समझें।

देखिये, उपासना का रहस्य क्या है? जिसको जैसा देखना चाहते हो, उसमें वैसी ही स्थापना करो। यह वैज्ञानिक सत्य है। जिसको जैसा देखना चाहते हो, उसको वैसा ही समझो।

एक भाई ने मुझसे कहा कि आप मुझे परम आस्तिक क्यों कह रहे हैं? मैं तो परम आस्तिक नहीं हूँ। मैंने कहा—मैं इसीलिये कहता हूँ कि आप आस्तिक हो जायेंगे। यह कोई कल्पना नहीं है, यह वास्तविकता है। जिसको आप जैसा समझेंगे, जैसा सोचेंगे, जैसा मानेंगे, वैसा वह हो जायेगा। इससे क्या सिद्ध हुआ? हम किसी को बुरा न समझें। तब किसी के बुरे होने में हमारा हाथ नहीं रहेगा। अगर आप यह चाहते हैं कि कोई बुरा न रहे, तो उसका सुगम उपाय है कि आप किसी को बुरा न समझें।

इसका अर्थ यह नहीं है कि आप भला समझें। यह मैं नहीं कहता। यह तो आपकी विशेष उदारता है। और यह आपके लिए आपका एक बड़ा स्वधर्म है। लेकिन कम-से-कम बुरा तो न समझें। यह कम-से-कम बात है। बुरा न समझने मात्र से आप तो भले हो जायेंगे। और आपके भले होने से जब आपमें कर्त्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति होगी, तब उस कर्त्तव्य-

परायणता से वह भी भला हो जायेगा। आप जानते हैं, कोई बुराई क्यों करने लगता है? उसके साथ बुराई होती है इसलिये बुराई करने लगता है। अगर उसके साथ बुराई न हो, तो वह कभी बुराई कर ही नहीं सकता। पर इतनी गम्भीरता से हम इस समस्या पर विचार नहीं करते। और ऐसा मानने लगते हैं कि उसने जान-बूझ कर बुराई की।

और अपने सम्बन्ध में ?—क्या बतायें ! हमारे संस्कार ही ऐसे थे, हमारी परिस्थिति ही ऐसी थी। तो अपने से जब बुराई होती है, तब तो हम बेबसी अनुभव करते हैं। और जब दूसरे से बुराई होती है, तब उसकी असावधानी अनुभव करते हैं, उसकी भूल अनुभव करते हैं। इसीलिए हमें उस पर क्रोध आता है। और अपनी क्योंकि बेबसी अनुभव कर लेते हैं, इसलिए अपने को क्षमा कर बैठते हैं। बेबसी अनुभव करना चाहिए दूसरे की, भूल अनुभव करना चाहिये अपनी। तब अपने प्रति न्याय होगा, दूसरे के प्रति क्षमा होगी।

आप जानते हैं, दूसरे के प्रति क्षमा करने से ही एकता आती है, वैर-भाव मिटता है, समता का उदय होता है, मानव द्वेष-रहित होता है, क्रोध रहित होता है, क्षोभ-रहित होता है। और उसके होने से उसमें 'स्मृति' जागृत होती है। यह जो 'स्मृति' है वह ज्ञान के अर्थ में भी है, प्रीति के अर्थ में भी है, प्राप्ति के अर्थ में भी है। जैसे, कोई वस्तु आप रखकर भूल गये और आपको स्मृति आ गई, तो प्राप्त हो गई कि नहीं ?

एक बार मैं श्रीनाथद्वारा में कुछ मित्रों के साथ स्नान कर रहा था। एक मित्र इस कार्य में सहयोग दे रहे थे। जब मैं

नदी से निकला, तो शरीर पोंछने के लिये वस्त्र की आवश्यकता हुई। मेवाड़ की भाषा में उसे हस्ताया कहते हैं वे लोग। तो जो भाई मदद कर रहे थे नहाने में, उनके कन्धे पर वह हस्ताया रखा हुआ था और इधर-उधर ढूँढ़ते फिर रहे थे— कहाँ है ? कहाँ है ? कहाँ है ? तब तक दूसरे भाई ने कहा कि आपके कन्धे पर क्या है ?—अरे, कि मैं भूल गया था। तो स्मृति और प्राप्ति युगपत् हो गई न ? जिस समय स्मृति आ गई, उसी समय प्राप्ति भी हो गई। तो 'स्मृति' 'प्राप्ति' के अर्थ में भी है। और 'स्मृति' 'प्रीति' के अर्थ में भी है। और 'स्मृति' 'ज्ञान' के अर्थ में भी है।

तो कर्त्तव्य की स्मृति, अपने स्वरूप की स्मृति, अपने प्रिय की स्मृति कब आयेगी ? जब हम क्षोभ और क्रोध से रहित होंगे। क्षोभ के रहते हुये, क्रोध के रहते हुए न कर्त्तव्य की स्मृति आयेगी, न अपने स्वरूप की स्मृति होगी, न अपने प्रिय की स्मृति होगी। अब आप सोचिये कि क्रोध-रहित होना कितना आवश्यक है ! आप कहेंगे कि हमको तो क्रोध नहीं आता, हम किसी पर बिगड़ते नहीं, हम किसी को कुछ कहते नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमको क्रोध नहीं आता।

क्रोध का स्वरूप क्या है ? किसी दूसरे की कोई भी बात, जिस वक्त आपको यह भासित होती है कि ठीक नहीं है और उसके पश्चात् हृदय करुणा से नहीं भरता, उदारता से नहीं भरता, तो समझना चाहिये कि क्रोध आ गया। नहीं तो करुणा उदय होनी चाहिये न ! उसके प्रति सद्भावना रहनी चाहिए न ! उसके प्रति प्यार उदय होना चाहिए न ! कि हे प्यारे, तुम ऐसा करते हो, बड़ा दुःख होता है ! कहीं यह आवाज आती है क्या ? आवाज आती है—तुम बड़े बेसमझ हो, तुम

बड़े बदतमीज हो, तुम्हारे समान कोई धूर्त नहीं है। तुम ऐसा करते हो ? यह आवाज निकली है। यह आवाज क्रोध का संकेत है।

कहीं यह आवाज निकलती—"मेरे प्यारे, तुम ऐसा करते हो तो मुझे बड़ा दु:ख होता है ! और देखो, कोई बात नहीं है। क्या तुम मेरी प्रसन्नता के लिए ऐसा करना छोड़ सकते हो ? मुझे बड़ा हर्ष होगा।" यह भी बढ़िया बात नहीं है। इससे और बढ़िया बात तो यह है कि भीतर इतनी सद्भावना जागृत हो कि उसकी भूल हमें अपनी भूल मालूम पड़े कि क्या हमसे कोई भूल हुई है इसलिए इन्होंने भूल करना सीख लिया ! जिसको हम प्यार करते हैं, जिसको अपना मानते हैं, उससे वह भूल क्यों हुई ! मालूम होता है, हमारे द्वारा प्यार नहीं मिला। मालूम होता है कि हमसे कोई भूल हो गई है। यदि हमसे भूल न हुई होती, तो क्या हमारे साथी कभी भूल करते ?

इस प्रकार का विचार जब उदय हो। इस प्रकार की विचार-लहरियाँ (थौट वेव) जब उत्पन्न हों, तब सचमुच आप उसके हित-चिन्तक हो सकते हैं, उसकी सेवा कर सकते हैं। और जब तक ऐसी बात नहीं आती, तब तक तो यही समझना चाहिये कि किसी ने राष्ट्र बनकर शासन किया, तो किसी ने सम्बन्धी बन कर शासन किया, तो किसी ने भय देकर शासन किया, तो किसी ने प्रलोभन देकर शासन किया। शासक जो होता है, वह सुधारक नहीं होता। शासक कभी सुधारक नहीं हुआ। आज तक नहीं हुआ, न हो सकता है, और न कभी होगा। इसलिये यह भ्रमात्मक धारण है कि

हम बल के प्रयोग से किसी का सुधार कर लेंगे—बड़ी ही भूल की बात है।

हाँ, सेवा करने में असमर्थ पाते हों, तो क्षमा माँगे कि हम इस योग्य नहीं हैं कि हम आपकी सेवा कर सकें। त्याग कर सकते हैं, असहयोग कर सकते हैं। असहयोग में द्वेष की गंध भी नहीं होती। असहयोग में तो एक प्रकार की अपनी असमर्थता होती है और एक नवीन जीवन की खोज होती है। असहयोग का अर्थ क्या है ? कि "अच्छा भाई ! हम आपकी सेवा नहीं कर सके, इसलिए ममता का त्याग करते हैं, सम्बन्ध विच्छेद करते हैं। और सम्बन्ध विच्छेद करके उससे अभिन्न होंगे, जो हमारा अपना है। आप हमारे अपने नहीं हैं। आप तो हमारे प्यारे के हैं, 'उनके' नाते हमें आपकी सेवा करना है। हमने भूल यह की थी कि अपने प्यारे को भूल गये और आपको अपना मान लिया।"

"आपको अपना मानने से हमारे में विकार की उत्पत्ति हो गई। क्योंकि जहाँ ममता होती है, वहाँ विकार की उत्पत्ति होती है। और विकार के उत्पन्न होने से हम अपने कर्त्तव्य को भूल गये और आपके कर्त्तव्य की बात सोचने लगे। यह हमसे भूल हुई। इसलिए हम अब आपसे असहयोग करते हैं। और 'जो' हमारा अपना है, 'जो' आपका भी अपना है, 'उससे' सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। यदि हमारे जीवन में सामर्थ्य आयेगी, तो हम आपकी सेवा करेंगे। पर, अपना मान कर नहीं करेंगे। हमने भूल की थी, जो आपको अपना माना। आप हमारे अपने नहीं हैं। आप तो हमारे 'प्यारे' के प्यारे हैं।"

विचार कीजिये, अपने नहीं है, इसका मतलब गैरियत नहीं। "आप तो हमारे 'प्यारे' के प्यारे हैं। हमारे 'प्यारे' कौन हैं ? 'जो' हमें जानते हैं, 'जिन्हें' हम नहीं जानते। और उनके आप प्यारे हैं। तो हमारे 'प्यारे' के प्यारे होने से आप हमारे सेव्य हैं, हम आपके सेवक हैं। हमने भूल की थी कि ममता के आधार पर आप पर अपना अधिकार माना था और आपकी सेवा नहीं की थी। अब हम या तो आपकी सेवा करेंगे, और जब तक आपकी सेवा के योग्य नहीं होंगे, तब तक हम असहयोग रखेंगे। और वह सदा के लिए आपकी ममता से रहित होकर, निर्विकार होकर अपने 'प्यारे' के नाते आपकी सेवा करेंगे।" तब कहीं जीवन में निर्दोषता सुरक्षित रहती है।

हम लोगों ने इस बात पर विचार करना बन्द कर दिया कि हमारे दुःख का कारण कोई दूसरा हो ही कैसे सकता है! और जब आप किसी को अपने दुःख का कारण नहीं मानते, तब आपको क्रोध आया क्यों? विचार तो कीजिये। क्रोध क्यों आया? द्वेष क्यों उत्पन्न हुआ? हमने किसी को बुरा क्यों समझा? तभी न! हम बुरा समझते हैं, जब हम यह मानते हैं कि आपने हमें दुःख दिया? मैं आपसे पूछता हूँ कि अगर कोई हमें दुःख दे सकता है, तो क्या कभी दुःख मिट सकता है?

बहुत गम्भीरता से विचार करें। यह अध्यात्मवाद है। अगर हमें कोई दुःख दे सकता है, तो दुःख मिट ही नहीं सकता, एक बात। दूसरी बात सोचिये, क्या दुःख उस प्रभु के विधान से मिला है? बहुत गम्भीरता से सोचिये। उसने

दुःख दिया है ? नहीं, उसमें दुःख है नहीं। और जगत दुःख दे सकता नहीं। भला, सतत परिवर्तनशील जगत्, पर-प्रकाश्य जगत् हमको दुःख दे पायेगा ? और जिसमें दुःख है ही नहीं, क्या उससे दुःख मिलेगा तो मानना पड़ता है कि हमारे दुःख का कारण कोई और नहीं है।

या तो दुःख प्राकृतिक विधान है और हित के लिए आया है। क्योंकि दुःख से सुख के प्रलोभन का नाश होता है। विधान जो होता है वह मंगलकारी होता है। यदि आप यह सोचें कि ऐसे दुःख भी तो आते हैं, जिनका कर्त्ता कोई व्यक्ति दिखाई नहीं देता और स्वयं भी नहीं होते और दुःख आ जाता है। तो वह दुःख वास्तव में आपको भासता है कब ? जब आप किसी वस्तु से तद्रूप होकर उसका सुख भोगते हैं। मुझे अन्धे होने का दुःख क्यों हुआ ? आँखों का सुख भोगने से। अगर मैं आँखों का सुख न भोगता, तो अन्धे होने का दुःख हो सकता था क्या ?

तो यह जो दुःख आपको भासित होता है, वह अपनी भूल से भासित होता है। और यह जो परिवर्तन आता है कि वस्तु का वियोग होगया, व्यक्ति का वियोग होगया, परिस्थिति बदल गई—यह विधान है।

तो परिवर्तन का अर्थ यह थोड़े ही है कि आपको दुःख हो। आपको दुःख तो आपकी ममता से होता है ! परिवर्तन आपको एक अलौकिक जीवन के लिए प्रेरणा देता है। आप उस दिव्य जीवन से विमुख होकर इसी जड़ता के साम्राज्य में रहना चाहते हैं, यह आपकी भूल है। इस भूल से आपको परिवर्तन दुःखद मालूम होता है।

आप सोचिये तो सही। अगर परिवर्तन को विधान से हटा दिया जाय और जो बीज बोया है वह वृक्ष न बने, तो आपको क्या मिलेगा ? जी ? अगर पिता का वीर्य और माता का रज शरीर के रूप में न बदले और शरीर विकसित न हो, तो क्या आपको कुछ लाभ मालूम होगा ? आप कहेंगे—कोई लाभ नहीं होगा, बड़ी हानि होगी।

तो परिवर्तन जीवन में विकास का मूल है कि ह्रास का मूल है ? आप विचार तो कीजिये। अगर शरीर नहीं रहता है, अगर वस्तु नहीं रहती है, तो इसका अर्थ यह है कि शरीर और वस्तु से परे जो जीवन है, उसमें आपका प्रवेश होता है। परन्तु आप उस परिवर्तन को अपने विकास का साधन न मानकर कहने लगते हैं कि हम तो बड़े अभागे हैं। क्यों ? अमुक वस्तु नहीं रही, यों, अमुक व्यक्ति नहीं रहा, यों।

भाई, जरा सोचो तो सही। जो 'नहीं' था, वही नहीं रहा, या जो 'है' वह भी नहीं रहा ? जो 'है' वह तो सदैव है। परन्तु हमने 'है' में आत्मीयता स्वीकार नहीं की, 'नहीं' में ममता करली। परिवर्तन ने ममता के त्याग की सामर्थ्य दी। हम इस रहस्य को भूल कर अपने को दु:खी बनाते हैं, दु:खी होते हैं।

वास्तव में मानव-जीवन दु:ख भोगने के लिए नहीं है। सुख-दु:ख का भोग तो पशु-पक्षी भी कर सकते हैं। मानव-जीवन सुख की दासता से रहित होने के लिए, दु:ख के भय से रहित होने के लिये, जगत् के लिये उपयोगी होने के लिये, अपने लिए उपयोगी होने के लिए, प्रभु के लिए उपयोगी होने के लिए ही मिला है। ऐसा अनुपम जीवन हम सबको प्राप्त

है। फिर भी आप-हम अपने को अभागा मानें, दुःखी मानें, अपने दुःख का कारण दूसरों को मानें, दूसरों के दुःख के कारण बन जायँ—यह अपनी भूल ही है।

इस भूल का नाश एक-मात्र सत्संग से ही साध्य है। सत्संग का अर्थ है, 'है' का संग, अविनाशी का संग—वस्तु का संग नहीं, व्यक्ति का संग नहीं, परिस्थिति का संग नहीं, अवस्था का संग नहीं, श्रम का संग नहीं—श्रम-रहित होकर 'है' का संग।

यही सत्संग अगर आप अपना लेते हैं अर्थात् प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में शान्त रहते हैं। जगने के बाद, सोने से पहले शान्त होते हैं। जैसे-जैसे आप शान्ति का सम्पादन करते जायेंगे, वैसे-वैसे आपका सर्वतोमुखी विकास होगा। शान्ति में ही कर्त्तव्य की, निज-स्वरूप की, अपने प्रिय की स्मृति उदय होती है। इस दृष्टि से शान्ति का सम्पादन प्रत्येक भाई के लिए, प्रत्येक बहन के लिए अनिवार्य है।

उसका बाह्य साधन–अनावश्यक कार्य का त्याग,आवश्यक कार्य को फलासक्ति-रहित पूरा करना। अर्थात् जिस कार्य में आपके विवेक और सामर्थ्य का विरोध हो, उसके लिये क्षमा मांगना। और जो कार्य सामर्थ्य और विवेक के अनुरूप हो, उसको निष्काम-भाव से अपने 'प्रिय' के नाते पूरा कर देना। बस, यही सफलता की कुँजी है।

विवेचन

(द्वारा—भक्तिमती देवकी जी)

साधक के जीवन में प्राकृतिक नियम के अनुसार न तो 'न जानने' का दोष है और न जाने हुए के अनुरूप जीवन बनाने के लिए सामर्थ्य का अभाव ही है। अर्थात् साधन की मूल सामग्री तो साधक को प्राप्त ही है। उसके सदुपयोग न करने में साधक की ही असावधानी है, जो उसका अपना बनाया हुआ दोष है। अपने बनाये हुए दोष के मिटाने का दायित्व अपने पर ही है, किसी और पर नहीं।

सभी दोष अविवेक के कार्य हैं। अविवेक केवल विवेक का अनादर है, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इस कारण विवेक के आदर में ही अविवेक का विनाश है। जिस प्रकार प्रकाश होने पर अन्धकार का दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार विवेक का आदर करने पर सीमित अहंभाव-रूपी अन्धकार जो अविवेक है, स्वतः मिट जाता है। उसके मिटते ही समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि जिस भूमि में दोष निवास करते हैं, वह भूमि ही शेष नहीं रहती।

यह नियम है कि 'करने' का अन्त होता है और उसके परिणाम का भी कालान्तर में नाश होता है। की हुई भूल को न दोहराने का व्रत लेने से भूल मिट जाती है और कालान्तर में भूल का परिणाम भी मिट जाता है। मौलिक निर्दोषता सुरक्षित हो जाती है।

हम जो कुछ करते हैं, उसका परिणाम हमीं तक सीमित नहीं रहता, अपितु समस्त विश्व में फैलता है। क्योंकि कर्म बिना संगठन के नहीं होता। अतः संगठन से उत्पन्न होने वाले कर्म का परिणाम व्यापक होना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से हम जो कुछ करें, वह इस उद्देश्य को सामने रख कर करना चाहिये कि 'हमारे द्वारा दूसरों का अहित तो नहीं हो रहा है!' यदि हमारे द्वारा होने वाले कर्मों से दूसरों का अहित हो रहा है, तो हमारा भी अहित निश्चित है। अतः इस कर्म विज्ञान की दृष्टि से हमें वह नहीं करना चाहिए, जिसमें किसी अन्य का अहित हो। अपितु वह अवश्य करना चाहिये, जिसमें सभी का हित हो।

कर्त्तव्यपालन की कसौटी है कि फल की आशा स्वभाव से ही न रहे। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि कर्त्तव्यपालन का होना ही महान् फल है। क्योंकि कर्त्तव्यपालन के पश्चात् 'करने' का प्रश्न ही शेष नहीं रहता। जब साधक जो कर सकता है, वह कर डालता है, तब क्या 'साध्य' को जो करना है, वह नहीं करेगा? क्या 'साध्य' अपने कर्त्तव्य से च्युत हो सकता है? कदापि नहीं। अपितु साध्य तो इतने उदार हैं कि साधक को भी 'करने' की सामर्थ्य प्रदान करते हैं। जिस प्रकार माँ अपने शिशु के लिए स्वतः सब कुछ करती है, उसी प्रकार 'साध्य' साधक के लिये सब कुछ करते हैं।

समाज में कर्त्तव्यपरायणता फैलती है तो कर्त्तव्यपालन से फैलती है; उपदेश, आदेश और सन्देश से नहीं फैलती। शासन का भय और प्रलोभन से भी कोई किसी को कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं बना सकता। अपना कर्त्तव्य है कि दूसरों के अधिकार की रक्षा की जाय।

कर्त्तव्यपरायणता वह विज्ञान है, जिससे मानव जगत् के लिये उपयोगी होता है और स्वयं योग-विज्ञान का अधिकारी हो जाता है। कारण कि कर्त्तव्यपरायणता विद्यमान 'राग' की निवृत्ति में हेतु है। राग-रहित हुये बिना कोई भी मानव अपने विकास में समर्थ नहीं होता। इस दृष्टि से कर्त्तव्यनिष्ठ होना अनिवार्य है।

कर्त्तव्यपालन का अर्थ कर्त्तव्य के अभिमान में, क्रिया-जनित सुख-लोलुपता में एवं फलासक्ति में आबद्ध होना नहीं है। ज्यों-ज्यों कर्त्तव्यपरायणता आती जाती है, त्यों-त्यों 'करने' का राग, पाने का लालच, जीने की आशा और मरने का भय स्वतः मिटता जाता है। सर्वांश में कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर मानव स्वतः अपने ही में अपने 'सर्वस्व' को पाकर कृतकृत्य होजाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म आस्तिक की 'पूजा' अध्यात्मवादी का 'साधन' एवं भौतिकवादी की 'सेवा' है। 'सेवा' विश्व-प्रेम में, 'साधन' असंगतापूर्वक विश्राम में और 'पूजा' प्रभु-प्रेम में परिणत होजाती है।

कर्त्तव्य पथ से भी मानव विश्राम प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य भी स्वतन्त्र पथ है। कर्त्तव्य की पूर्णता होने पर विश्राम तथा विश्व-प्रेम एवं अनेकता में एकता का साक्षात्कार बड़ी ही सुगमतापूर्वक स्वतः होता है। प्रेम का आरम्भ किसी भी प्रतीक में क्यों न हो, किन्तु 'प्रेम' स्वभाव से ही विभु होजाता है। अतः विश्व-प्रेम भी विश्व से अतीत आत्मरति एवं प्रभु-प्रेम के रूप में परिणत होता है।

प्रार्थना

(२)

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्वसमर्थ
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
मानव-मात्र को
विवेक का आदर
तथा
बल का सदुपयोग
करने की सामर्थ्य
प्रदान करें,
एवम्
हे करुणासागर !
अपनी अपार करुणा से
शीघ्र ही
राग-द्वेष का नाश करें,
सभी का जीवन
सेवा, त्याग, प्रेम से
परिपूर्ण हो जाय ।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!

मानव सेवा संघ के प्रकाशन

नाम पुस्तक	पृष्ठ सं०	मूल्य
१ सन्त समागम भाग १	२५६	३-००
२. सन्त समागम भाग २	१६०	५-००
३. सन्त समागम भाग ३	१६४	५-००
४. जीवन दर्शन भाग १	१७६	५-५०
५. जीवन दर्शन भाग २	१९०	६-००
६. चित्त शुद्धि भाग १	२०८	४-५०
७. चित्त शुद्धि भाग २	२५२	५-५०
८. सन्त वाणी भाग १ (सफलता की कुञ्जी)	१५२	३-००
९. सन्त वाणी भाग २	१६८	७-००
१०. सन्त वाणी भाग ३	१७६	७-५०
११. सन्त वाणी-भाग-५ (क)	१२८	५-५०
१२. सन्त वाणी भाग-५ (ख)	१४४	६-००
१३. सन्त वाणी भाग ६	१९०	७-००
१४. सन्त वाणी भाग ७	१९६	७-००
१५. जीवन विवेचन भाग ३	२७०	१०-००
१६. जीवन विवेचन भाग ४	२६६	१०-००
१७. जीवन विवेचन भाग ५	२८७	१२-००
१८. प्रश्नोत्तरी सन्तवाणी)	१२८	५-००
१९. साधन-तत्व	१०४	२-५०
२०. जीवन पथ	१०४	४-५०
२१. मानवता के मूल सिद्धान्त	९६	४-५०
२२. मूक सत्संग तथा नित्य योग	२२४	६-००
२३. मानव दर्शन	२०८	३-००
२४. मंगलमय विधान	७०	१-५०
२५. साधन निधि	१६०	२-५०
२६. मानव सेवा संघ परिचय	३६	१-५०

नाम पुस्तक	पृष्ठ सं०	मूल्य
२७. आचार संहित	३२	१-००
२८. दर्शन और नीति	१२०	३-५०
२९. दु:ख का प्रभाव	१२८	५-००
30. A Saint's call to Mankind	192	5-00
31. Sadhana-spotlight by a Saint	70	1-50
32. Revelation of the Spiritual Path	46	8-00
३३. पाथेय भाग १	१९२	७-५०
३४. पाथेय भाग २	१६८	७-००
३५. पथ-प्रदीप	९४	५-००

मिलने का पता—

मानव सेवा संघ, वृन्दावन (मथुरा) उ. प्र. २८१ १२१

जीवन-दर्शन

(संघ का मासिक मुख पत्र)

मानव-मात्र में निज कल्याण तथा सुन्दर समाज के निर्माण की चेतना देने वाला, संघ के स्वरूप तथा उसकी विचार-धारा का प्रतीक, साधकों के लिए सही पथ-निदर्शक, सभी का सच्चा सखा, सर्वथा पठनीय। वार्षिक शुल्क २०/-मात्र। आजीवन हेतु १५१/-मात्र।

मानव सेवा संघ, वृन्दावन(मथुरा) उ. प्र. २८१ १२१